मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन का पुष्प ३९

कुल पृष्ठ : २१०

प्रथमबार . वि० स० २०३३ श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबधन)
सन् १९७६ अगस्त

प्रकाशक : मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रकाशन मे अर्थसौजन्य .
श्री लक्ष्मीलाल जी अमरचन्द जी लुकड, जगदलपुर
श्री महावीरचन्द जी चोरडिया, बेंगलूर
श्री अशोककुमार जी चोरडिया, बेंगलूर

मूल्य : ५) पांच रुपया मात्र

मुद्रक श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

अपनी बात

मानव स्वभावत उत्सव प्रेमी है। रग-राग, आमोद-प्रमोद, खान-पान और हँसी-मजाक मे वह सहज ही प्रवृत्त होता है और जीवन का आनन्द मनाता है।

आध्यात्मिक मनीषियो ने मानव की सहज वृत्तियो को आध्यात्मिकता की ओर मोडने का प्रयत्न किया है। उसकी कषाय और मोह जनित प्रवृत्तियो को वीतरागता और आत्म-रमणता के रग मे रग देने की अनेक चेष्टाएँ की हैं, उन्ही प्रयत्नो व उपक्रमो मे पर्युषण पर्व एक महत्वपूर्ण उपक्रम है।

इस पर्वराज की आराधना करने के लिए दूर-दूर के मित्र, स्वधर्मी, बन्धु और आध्यात्मप्रेमी लोग एकत्र होते हैं, एक ही नगर के निवासी भी धार्मिक स्थानो उपाश्रयों व मन्दिरो मे एक साथ मिलते हैं, पर उनका यह सम्मिलन आमोद-प्रमोद के लिए नहीं होकर आध्यात्मिक जागरण के लिए होता है। वे इन पर्व दिनो मे भौतिक व्यामोह को भुलाकर, आध्यात्मिक लोक मे विचरण करते हैं, कोई तपस्या करता है, कोई शास्त्र स्वाध्याय करता है, कोई दया पालता है, कोई दान करता है, कोई ब्रह्मचर्य का पालन करता है, कोई अपने कषायो की शान्ति करने मे जुटता है। पुराने वैर-विरोध और आपसी मन-मुटावो की कालिमा को धोकर आत्मा को शान्त, प्रसन्न और निर्वैर बनाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार यह पर्व मोक्ष के चार अगो की बहुमुखी आराधना-उपासना का एक पवित्र त्यौहार बन जाता है। इन दिनो मे आध्यात्मिकरस, शान्तरस, करुणरस की जो अमृत वर्षा होती है, तप-त्याग-दान की जो पवित्र गगा बहती है, वह वास्तव मे ही अद्‌भुत है, परम आनन्ददायी आत्मोल्लास का वातावरण इन दिनो में बनता है।

आत्मा मे नया उल्लास और नई चेतना जगे यही तो पर्वराज पर्युषण का मुख्य लक्ष्य है।

पर्युषण का प्रारम्भ भाद्रपद कृष्णपक्ष मे होता है और समाप्ति होती है शुक्लपक्ष मे। इसका सीधा सकेत है कि पर्युषण हमे कृष्णपक्ष से निकाल कर शुक्लपक्ष की ओर बढने का आह्वान करता है। काम-क्रोध-मोह आदि विकारो के गहन अधकार से निकालकर क्षमा-वैराग्य-शान्ति और आत्म-दर्शन के उज्ज्वल प्रकाशमय दिव्य लोक की ओर खीचता है।

पर्युषण के प्रथम दिनो में त्याग, तप आदि का उपक्रम चलता है और अन्तिम दिन, सर्व जीव जगत के साथ क्षमापना, आत्मतुल्य-अमित प्रेम और मैत्री की मधुर भावना के साथ समाप्त होता है। कृष्णपक्ष मे हम आत्मा की कलुषता, कालिमा को तप-त्याग द्वारा धोने लगते हैं और आठ दिनो में धोते-धोते उसे परम उज्ज्वल-निर्मल शुक्ल रूप में प्रतिष्ठित कर परम प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं। यह भी कृष्ण-से शुक्ल पक्ष की ओर ऊर्ध्वगमन है।

पर्युपण के आठ दिनो मे मैं विशेष रूप से शास्त्र-स्वाध्याय और धार्मिक-चर्चा को महत्व देता हूँ। तप भी यथाशक्ति करता हूँ, पर शारीरिक दुर्बलता के कारण उसकी आराधना कम ही हो पाती है, पर अपनी इस कमी को आभ्यन्तर तप की विशेष आराधना के द्वारा पूर्ति करने का प्रयत्न करता हूँ।

पिछले कई चातुर्मासो मे और विशेषत पिछले कुचेरा चातुर्मास मे अनेक वन्धुओ ने पर्युषण पर्व के विषय मे कई प्रकार की जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की थी। मैंने अपने प्रवचनो मे अपने अध्ययन, अनुभव और चिन्तन के आधार पर उनका समाधान भी प्रस्तुत किया था। पर्युषण के कृत्यो के साथ-साथ अतगड सूत्र की प्रेरक घटनाओ का भी विस्तारपूर्वक वाचन किया था। वे प्रवचन सकलित किये गये और स्नेही श्रीचन्द जी सुराना ने अत्यन्त निष्ठा के साथ इनका सम्पादन कर पाठको के लाभार्थ प्रस्तुत कर दिया है।

पर्युषण पर्व पर तीर्थंकरो का पवित्र जीवन चरित्र भी पढा जाता है, और इतिहास का ज्ञान-प्रदान करने वाली स्थविरावली का भी वाचन होता है। प्रस्तुत पुस्तक में ये दोनों अग नहीं लिये गये हैं। इसका कारण है—

तीर्थंकरो का जीवन चरित्र-सस्था की ओर से जैन कथामाला के भाग, ४, ५, ६ मे पहले ही प्रकाशित कर दिया गया है, उस अश को पुन इस पुस्तक के साथ प्रकाशित करने मे पुनरावृत्ति मात्र होती। इसी प्रकार जम्बूस्वामी एव उनके पश्चाद्-वर्ती आचार्यो की परम्परा का विस्तृत एव रोचक वर्णन भी जैन कथामाला के भाग १२ से १७ तक मे लगभग १०० से अधिक कहानियो मे ग्रथित करके प्राय प्रकाशित किया जा चुका है।

इस कारण से इन दोनो अगो का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक मे नही लिया गया है। अधिक वडी पुस्तक पाठक को भार रूप लगने लगती है। इसलिए भी सम्पादक वन्धु ने उन चरित्रों को सिर्फ उन भागो मे देखने का निर्देश करके छोड दिया है।

मेरी भावना व कल्पना के अनुसार इन प्रवचनो का सपादन सुन्दरतम रूप मे हुआ है, मुझे प्रसन्नता है कि पाठको को इससे सन्तोष होगा।

मेरी साहित्यिक गतिविधि मे मेरे परम श्रद्धेय गुरुभ्राता शासनसेवी उपप्रवर्तक स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज की सतत प्रेरणा रही है, साथ ही सेवाभावी विद्यारुचि श्री विनय मुनिजी 'विधु' एव महेन्द्र मुनि जी 'दिनकर' की भी विनय पूर्ण सेवा का सहयोग रहा है। मैं सभी सहयोगी जनो का विशेष रूप से स्मरण कर आशा करता हूँ 'पर्युपण पर्व प्रवचन' पाठको एवं साधको के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

नागौर
रक्षाबन्धन
वि० स० २०३३

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

पर्युषण-पर्व जैन ससार का महापर्व है। इन दिनो मे क्षमा, शाति और तप त्याग की पवित्र गगा का महास्रोत जन-जीवन को पावन एव शीतल करता हुआ वहता है। स्थान-स्थान पर शास्त्रो का वाचन एव स्वाध्याय चलता है।

स्वाध्याय प्रेमी श्रावको की अनेक वर्षों से यह माग आ रही थी कि पर्युषण पर्व का जितना माहात्म्य है, उसके अनुसार उसकी गरिमा एव उसकी आराधना की विधि का ज्ञान बहुत कम लोगो को है। अनेक युवक तथा जिज्ञासु पर्युषण के सम्बन्ध मे वार-वार पूछते रहते हैं कि पर्युषण का यह महत्त्व क्यो है? पर्युषण कब से चले? पर्युषण आठ दिन का ही क्यो? पर्युषण मे कौन सा आगम व शास्त्र पढना चाहिए? इस पर्व का मुख्य सदेश क्या है? उद्देश्य क्या है? आदि प्रश्नो का उचित सतोषजनक समाधान वे खोजते हैं, किन्तु बहुश्रुत मुनियो के सान्निध्य का अभाव तथा विचार-प्रतिवद्धता के कारण ये प्रश्न सही समाधान नही पा सकते, और जिज्ञासा का प्रश्न चिन्ह खडा ही रहता है।

जब तक किसी विषय का तर्क-सगत समाधान नही मिलता, तब तक उसमे गहरी रुचि नही होती, होती है तो सिर्फ श्रद्धा-पूर्वक, किन्तु यदि ज्ञान-पूर्वक रुचि हो तो उसकी आराधना-उपासना मे भी अनूठा आनद आता है।

आदरणीय बहुश्रुत श्री मधुकर मुनिजी महाराज पर्युषण पर्व पर अनेक बार चिन्तन प्रधान, विवेचनात्मक प्रवचन करते रहते हैं। गतवर्ष कुचेरा चातुर्मास मे भी पर्युषण के पर्व दिनो मे काफी अच्छे विवेचनापूर्ण प्रवचन चले, जिन्हें सुनकर प्रवुद्ध श्रोताओ ने उनके सकलन एव प्रकाशन की माग की थी। अतगड सूत्र का वाचन तो मुनिश्रीजी प्रत्येक वर्ष वडी सरसता और सजीवता के साथ करते ही हैं।

पाठको की व्यापक माग और मुनिश्रीजी के समाधान परक, युक्ति एव शास्त्रीय प्रमाण पुरस्सर प्रवचन सुनकर सस्था के हितैषियो व अधिकारियो ने इन प्रवचनो के प्रकाशन का निश्चय किया।

हमे प्रसन्नता है कि विद्वान सपादक तथा हमारे चिर सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने आत्मीय भाव से श्रम करके मुनिश्री जी के इन प्रवचनो का सुन्दर और सरस सम्पादन किया है। सम्पादकजी ने मुनिश्री जी के पर्युषण सम्बन्धी सभी प्रवचनो का अवलोकन कर उनमे एक क्रम-वद्धता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर प्रवचनो मे आये शास्त्रीय विषयो को सदर्भ देकर, उनकी प्रामाणिकता को परिपुष्ट कर दिया है। दूसरे खड के कथा भाग मे मुनिश्री जी द्वारा अतगड सूत्र के

अनुसार कही गई कथाओ को भी अच्छे ढग से ले लिया गया है। यद्यपि प्रवचन के समय अनेक अवातर विषय भी आ जाते हैं, लेकिन प्रस्तुत मे काट-छाँट करके कथा प्रवाह को क्रमवद्धता तथा रोचकता प्रदान की गई है।

क्षमा एव क्रोध विजय की घटनाएं व दृष्टात भी जैन साहित्य में भरे पडे हैं, जिनका मुनिश्री जी वडी रोचक शैली मे उपयोग करते हैं। उनमे से कुछ प्रेरक एव ऐतिहासिक दृष्टात परिशिष्ट (१) मे दे दिये गये हैं। परिशिष्ट (२) मे उन पारिभाषिक शब्दो और वाक्यो का विस्तृत विवेचन भी आ गया है जिनकी जानकारी के विना उस कथा सूत्र की गरिमा ही अधूरी रहती है। जैसे गुणरत्न सवत्सर, रत्नावली आदि तप, भिक्षु प्रतिमा आदि का वर्णन अतगड सूत्र के मूल मे है, कथा के साथ इनका वर्णन अधिक लम्बा हो जाने के कारण इन सवको परिशिष्ट मे अकित कर दिया गया है और अत मे उपशामना सूत्र, जो पर्युषण पर क्षमा और शाति की भावनाओ को विशेष वल प्रदान करता है, पाठको के स्वाध्याय के लिए दिया गया है।

हम आशा करते हैं, यह पुस्तक न केवल जिज्ञासु पाठको को वल्कि पर्युषण-पर्व पर प्रवचन करने वाले अनेक स्वाध्यायी श्रावको व मुनिजनो के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

हमारी सस्था मुनिश्री मधुकरजी महाराज के प्रति अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करती है कि उन्होंने हमे इतनी सुन्दर और श्रेष्ठ विचार सामग्री प्रदान की। साथ ही विद्वान सपादक श्री सुराना जी को भी हार्दिक धन्यवाद देती है।

इस पुस्तक के प्रकाशन आदि मे श्रीमान् लक्ष्मीलाल जी अमरचदजी लुंकड, जगदलपुर तथा श्रीमान् महावीरचदजी चोरडिया, अशोककुमार जी चोरडिया (महावीर ड्रग हाऊस) वेंगलूर ने जो उदार अर्थ सहयोग प्रदान किया है, तदर्थ सस्था आपके सहयोग की आभारी है। सच वात तो यह है कि उदार अर्थ सहयोगी वधुओ के आर्थिक सौजन्य के कारण यह प्रकाशन शीघ्र हो सका और कम मूल्य मे ही पाठको की सेवा मे पहुँच सका है, हम उन अर्थ सहयोगी वधुओ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है। भविष्य मे इसी प्रकार के सत्सहयोग की आशा के साथ।

मंत्री
मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
व्यावर

प्रस्तावना

पर्युषण पर्व प्रवचन : एक चिन्तन

भारतीय-साहित्य में वेद, आगम और त्रिपिटक का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक-परम्परा मे जो स्थान वेद का है तथा बौद्ध-परम्परा मे जो स्थान त्रिपिटक का है, जैन-परम्परा मे वही स्थान आगम का माना गया है। वैदिक-परम्परा के ऋषियो ने शब्दो की सरक्षा पर अधिक बल दिया है, इसके विपरीत जैन और बौद्धो ने शब्द की सरक्षा के साथ-साथ उसके अर्थ पर भी अधिक बल दिया है। यही कारण है कि वेदो मे शब्दो और पाठों की सरक्षा रही, पर अर्थ की दृष्टि से विद्वानो मे मतभेद खड़े हो गए। वेद-परम्परा के विद्वानो ने अनेक प्रयत्न किए है। पर अर्थ की दृष्टि से वे आज तक भी एक मत नही हो सके। जैन तथा बौद्ध-परम्परा मे शब्द के समान अर्थ को भी महत्व दिया गया है, यही कारण है कि आगमो मे पाठ भेद होने पर भी अर्थ भेद विशेष नहीं रहा। वेद किसी एक ऋषि के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करते, जबकि जैन-गणि-पिटक एव बौद्ध-त्रिपिटक क्रमश भगवान महावीर और बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन-परम्परा के अनुसार आगमो के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं, और सूत्र के प्रणेता गणधर रहे हैं। यही कारण है, कि इन तीनो परम्पराओ मे समय-समय पर विचार भेद रहा है।

जैन और वैदिक-परम्परा की सस्कृति, दर्शन और धर्म, एक देश के होकर भी उनमे कुछ मौलिक भेद रहे हैं। जैन-सस्कृति अध्यात्म-प्रधान है। वहाँ आत्म-साधना को विशेष महत्व दिया गया है। जैन आगमो मे उन तत्वो का निरूपण किया गया है, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव के जीवन विकास से है। ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ समय पूर्व तक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानो का यह अभिमत था, कि आगम और पिटक के मूल प्रेरणा स्रोत वेद ही रहे हैं, अथवा वेदो के विशेष भाग उपनिषद् रहे हैं, परन्तु मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई से सप्राप्त ध्वसावशेषो ने विद्वानो की कथित धारणाओ मे परिवर्तन कर दिया है, और सिद्ध कर दिया है, कि आर्यों के आगमन से पूर्व ही भारत मे जो धर्म और सस्कृति तथा दर्शन थे, वे पूर्ण रूप से विकसित थे। कुछ निष्पक्ष समालोचको ने इस सत्य को स्वीकार किया है, कि श्रमण सस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक-परम्परा ने अहिंसा, अपरिग्रह और समन्वय के तत्वो को स्वीकार किया है।

आगम की परिभाषा

आगम की परिभाषा के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद हो सकते हैं। समय-समय पर विद्वानो ने अपने ग्रन्थो मे परिभाषाओ को अदल-बदल कर के भी लिखा है, परन्तु समस्त परिभाषाओ को देखने पर यह ज्ञात होता है कि आगम शब्द का प्रयोग तीर्थंकर की वाणी के रूप मे ही किया गया है। आगे चलकर आगम के दो भेद किये हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक आगम भारत एव रामायण आदि तथा लोकोत्तर आगम सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा द्वारा प्ररूपित आचाराग आदि शास्त्रो को ही स्वीकार किया है। लोकोत्तर आगम के तीन भेद हैं—सुत्तागम, अर्थागम और तदुभयागम। आगम के भेद अन्य प्रकार से भी किये गये हैं, जैसे—आत्मागम, अनन्तर-आगम और परम्परा आगम। आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप यह दो प्रकार भी हैं। तीर्थंकर अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं, अत अर्थरूप आगम तीर्थंकरो का आत्मागम कहलाता है, क्योकि वह अर्थागम उनका स्वय का है। पर वही अर्थागम गणधरो ने तीर्थंकर से प्राप्त किया है। तीर्थंकर और गणधर के मध्य किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नही है, इस अपेक्षा से वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है। किन्तु उस अर्थागम के आधार पर स्वय गणधरदेव सूत्ररूप रचना करते हैं, अत. सूत्रागम गणधरो के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरो के साक्षात् शिष्यो को गणधरो से सूत्रागम सीधा ही सप्राप्त होता है, उनके मध्य मे कोई व्यवधान नही होता। इस अपेक्षा से उन शिष्यो के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है। पर अर्थागम तो परम्परागम ही है, क्योकि वह उन्होने अपने धर्मगुरु गणधरो से सप्राप्त किया है। पर वह गणधरो को भी आत्मागम नही था, उन्होने भी तीर्थंकरो से सप्राप्त किया था, अत॰ गणधरो के प्रशिष्य एव उनकी परम्परा मे होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यो के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम है।

पर्युषण-पर्व और आगम-वाचना

पर्युषण के परम पवित्र दिवसो मे किस आगम की वाचना की जाए, अथवा श्रोताओ को कौन-सा आगम सुनाया जाए ? यह एक प्राचीनकाल से ही विवाद का विषय रहा है। कही पर कल्प-सूत्र की वाचना की जाती है, और कहीं पर अन्तकृत्-दशा-सूत्र की। अनन्तकृत्दशा-सूत्र की परिगणना एकादश अग-सूत्रो मे की जाती है। ग्यारह अगो मे से यह आठवाँ अग माना गया है ? तप की आराधना करने वाले साधको का इसमे कहीं पर विस्तार से और कही पर सक्षेप मे वर्णन किया गया है। अन्तकृत्दशा-सूत्र आठ वर्गों मे विभक्त है, तथा प्रत्येक वर्ग के अध्ययनो की सख्या भिन्न-भिन्न दी गई है। साथ मे यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अन्तकृत्दशा-सूत्र मे अरिष्टनेमि-युग के साधको का तथा महावीर-युग के साधको का वर्णन किया गया है। स्थानकवासी परम्परा मे अधिकतर स्थानो पर अन्तकृत्दशा-सूत्र की वाचना ही की जाती है। परन्तु कही-कही पर कल्प-सूत्र की वाचना भी करने की परम्परा रही है, और आज भी वह भारत के विभिन्न स्थानो पर जीवित दशा मे विद्यमान है।

अन्तकृत दशा सूत्र की वाचना

भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग एक हजार वर्ष के बाद से १५०० वर्ष तक का—लगभग पाँच-सौ वर्ष का मध्यकाल अनेक दृष्टियो से जैन-धर्म की अवनति का काल माना जाता है। इस युग मे प्रतिभाशाली विद्वान आचार्य तो हुए, लेकिन आचार की दृष्टि से वे शिथिल माने जाते रहे। धर्म मे आडम्बर, द्रव्य पूजा तथा लौकिक एषणाओ के कारण वे राजकीय मान-सम्मान और चमत्कारो मे फसकर साधु के उज्ज्वल-निर्मल चारित्र की मर्यादाओ से कुछ दूर हटने लगे थे। पर्युषण-पर्व मे कल्प-सूत्र की वाचना करने की परिपाटी काफी प्रचलित हो चुकी थी, और वह आगम की भाँति ही जनता की श्रद्धा का केन्द्र बन गया। इस श्रद्धा का लाभ उठाकर आचार्यों ने कल्प-सूत्र के माध्यम से ही आडम्बर का प्रचार एव प्रसार किया। भगवान का जन्म-अभिषेक, जन्म-कल्याणक एव दीक्षा-कल्याणक आदि की वाचनाओ पर अनेक प्रकार पूजा एव आडम्बरो के लिए धन-सग्रह होने लगा। आध्यात्मिक दृष्टि का विस्मरण कर दिया गया। इस स्थिति को देखकर कुछ अध्यात्म-प्रेमी साधको का मन अत्यन्त खिन्न हुआ। पर्युषण को वे विशुद्ध आध्यात्मिक-जागृति का पर्व ही रखना चाहते थे। अत आचार्यों ने देश और काल की परिस्थिति को देखकर कल्प-सूत्र के स्थान पर अन्य आगम वाचना का विकल्प प्रस्तुत करने का सकल्प किया। उसी खोज का परिणाम यह है, कि कल्प-सूत्र का स्थान धीरे-धीरे अन्तकृतदशा-सूत्र ने ले लिया। यह एक इस प्रकार का आगम था, जिसमे तप, त्याग एव वैराग्य की भावनाएँ अधिक प्रस्फुटित हो रही थी। अन्तकृतदशा-सूत्र मे भगवान नेमिनाथ, वासुदेव श्रीकृष्ण एव भगवानमहावीर के युग के महान् तपस्वी साधको के निर्मल जीवन का वर्णन उपलब्ध होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कल्प-सूत्र के स्थान पर अन्तकृतदशा-सूत्र की वाचना कब और किस आचार्य से प्रारम्भ हुई इसका कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नही है। पर ऐतिहासिक कारणो की खोज मे यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि यह महान् परिवर्तन धर्मप्राण लोकाशाह की उस धर्म-क्रान्ति का ही परिणाम है, जो शिथिलाचार, धार्मिक-आडम्बर और द्रव्य-पूजा के विरोध मे की गई थी। अनेक दृष्टियो से यह परिवर्तन सुन्दर है।

अन्तकृतदशा एक परिचय :

अन्तकृतदशा-सूत्र एक चरित्र प्रधान आगम है, जिसमे नेमि-युग एव महावीर-युग के ९० महान् साधको का तपोमय जीवन वर्णित है। कितना सुन्दर सयोग मिला कि पर्युषण-पर्व के आठ दिवस और अन्तकृतदशा-सूत्र भी ग्यारह-अगो मे आठवाँ अंग और फिर इस आठवें अग के वर्ग भी आठ ही हैं। आठ कर्मों का सपूर्ण रूप से क्षय करने वाले महान् साधको के उदात्त जीवन का इसमे वर्णन है। प्राकृत मे अन्तगडदशा और सस्कृत मे अन्तकृत्दशा—इस सूत्र का नाम है। अन्तकृत् शब्द की व्याख्या करते हुए नवागी व्याख्याकार अभयदेवसूरि ने कहा है—

"अन्तो-भवान्त , कृतो-विहितोयैस्ते अन्तकृत तेषां दशा अन्तकृत् दशा।"

भव-सागर का अन्त जिन्होंने कर दिया, वे अन्तकृत कहलाते हैं, उन अन्तकृतो अर्थात् सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हुए आत्माओ का वर्णन जिसमे किया गया हो, वह अन्तकृत-दशा कहा जाता है। इसके आठ वर्ग हैं। प्रथम एव अन्तिम वर्ग में दश-दश अध्ययन है। शेष किसी मे तेरह अध्ययन और किसी मे सोलह अध्ययन हैं। इस आगम के प्रथम-वर्ग से पांचवें वर्ग तक भगवान नेमिनाथ-युग के साधको का वर्णन है। पांच वर्ग के अध्ययनो की सख्या इस प्रकार है—प्रथम वर्ग मे १० अध्ययन, द्वितीय वर्ग मे ८ अध्ययन, तृतीय वर्ग मे १३ अध्ययन, चतुर्थ वर्ग मे १० अध्ययन तथा पञ्चम वर्ग मे १० अध्ययन, इस प्रकार इन पांच वर्गों मे कुल ५१ अध्ययन हैं। छट्ठे, सातवें और आठवें वर्ग मे भगवान महावीर के युग के साधको का वर्णन है। इन साधको की सख्या ३९ है। छठे वर्ग के १६ अध्ययन, सातवें-वर्ग के १३ अध्ययन तथा आठवें वर्ग के १० अध्ययन हैं। अन्तकृतदशासूत्र का सक्षेप मे यही परिचय है।

कल्प-सूत्र . एक परिचय

कल्प-सूत्र की वाचना प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। स्थानकवासी परम्परा मान्य ३२ आगमो मे इसकी परिगणना नही की जाती, फिर भी अनेक दृष्टियो से कल्प-सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। विशेपतया ऐतिहासिक-दृष्टि से इसका गौरवपूर्ण स्थान रहा है। कल्प-सूत्र तीन विभागो मे विभाजित रहा है। उसके प्रथम विभाग में तीर्थंकरो का जीवन-चरित्र है। सर्वप्रथम भगवान महावीर का विस्तृत जीवन है, फिर भगवान पार्श्वनाथ, भगवान नेमिनाथ और भगवान ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन है। शेप तीर्थंकरो का सक्षिप्त जीवन परिचय दिया गया है, कल्पसूत्र का द्वितीय विभाग स्थविरावली के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे एकादश गणधर, जम्बूस्वामी, प्रभवस्वामी और आचार्य भद्रबाहु, आचार्य सभूतिविजय और आचार्य देवर्धिगणि आदि आचार्यों के जीवन का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक की परम्परा का वर्णन स्थविरावली मे किया गया है। कल्प-सूत्र का तृतीय भाग—समाचारी है। इसमें दस प्रकार की समाचारी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस विभाग में साधु-वर्ग और साध्वी-वर्ग के पालनीय कर्तव्यो का, उनके आचार का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

पर्युषण-पर्व का महत्व

जैन-परम्परा मे पर्युषण का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पर्युषण के पवित्र दिनो मे तप एव त्याग की विशेष रूप से आराधना की जाती है। पर्युषण-पर्व के सम्बन्ध मे एक विवादास्पद प्रश्न यह रहा है, कि पर्युषण कब मनाया जाना चाहिए। यह प्रश्न इतना अधिक विवादास्पद रहा है, कि जैन-सघ मे इसके कारण से अनेक सम्प्रदाय एव उपसप्रदाय समय-समय पर निर्मित होते रहे हैं। ज्योतिप-शास्त्र के अनुसार जिस वर्ष दुर्भाग्य से दो श्रावण या दो भाद्रपद हो उस वर्ष जैन समाज मे पर्व-आराधना को लेकर उग्र विवाद उपस्थित हो जाता है। पर्व है—क्षमा का, पर क्रोध और रोष

से सारा समाज ग्रस्त हो जाता है। इस विषय मे इस प्रकार समझा जा सकता है, कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोडकर द्वाविंशति तीर्थंकरो के युग मे पर्युषण कल्प जैसा कोई विधान नही है। वर्षावास मे एक नियत स्थान पर एक नियत काल तक रहने का उनके लिए कोई विधान नही है। एक क्षेत्र मे रहने से यदि कोई दोष की सम्भावना न हो, तो वे पूर्व कोटि वर्ष तक एक स्थान पर रह सकते हैं, और यदि दोष की सम्भावना हो, तो एक मास भी नही रह सकते। इस प्रकार वर्षावास मे जब तक वर्षा होती रहे, वे एक स्थान पर रहते हैं, यदि वर्षा न होती हो तो वे कभी भी विहार कर सकते है। प्रथम तीर्थंकर तथा अन्तिम तीर्थंकर के साधको का यह कल्प नहीं है उनके लिए निश्चित विधान है, कि वे निर्दोष स्थान 'देखकर' आषाढ पूर्णिमा को वे एक स्थान पर स्थित हो जाएँ। यदि आषाढी पूर्णिमा तक उन्हे किसी निर्दोष स्थान की प्राप्ति न हो, तो पांच-पांच दिनो के अन्तर से अर्थात् श्रावण कृष्णा, पचमी, दशमी आदि प्रत्येक पाँच दिन के अन्तर से निर्दोष स्थान की प्राप्ति होने पर पर्युषण कर लें। यदि ऐसा करते-करते १ मास और २० दिन वीत जाएँ, तो निर्दोष स्थान न मिलने पर आखिर आषाढी पूर्णिमा के पचासवें दिन भाद्र शुक्ला पचमी को तो निश्चित रूप से पर्युषण कर ले, भले ही किसी वृक्ष की छाया मे ही रहकर पर्युषण करना पड़े। परन्तु उस पर्व तिथि अर्थात् पञ्चमी का उल्लघन न करे और उसके बाद ७० दिन तक वही स्थिर रहकर वर्षावास बिताए। समवायाग सूत्र एव कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के विषय मे भी यही उल्लेख है, कि श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के एक मास वीस दिन व्यतीत होने के बाद पर्युषण किया था। जिस प्रकार भगवान ने वर्षाकाल का एक मास बीस दिन व्यतीत होने पर वर्षावास का निश्चय किया, उसी प्रकार उनके गणधर, आचार्य, उपाध्याय एव साधु-साध्वी भी वर्षावास का निश्चय करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है—**पर्युषण-पर्व-प्रवचन**। लेखक और सम्पादक ने प्रस्तुत पुस्तक को दो विभागो मे विभाजित किया है—विचार चर्चा विभाग और प्रेरणाप्रद-प्रसग। दोनो ही विभाग अपने आप मे परिपूर्ण है। विचार चर्चा-विभाग मे सरस, सुन्दर एव रुचिपूर्ण प्रवचनो का सकलन किया गया है, जिससे प्रवचनकार की बहुश्रुतता एव विद्वत्ता का परिचय उपलब्ध होता है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से प्रवचनकार और सम्पादक दोनो अपनी-अपनी सीमाओ मे फलवान सिद्ध हुए हैं। कही-कहीं पर विषय की गम्भीरता अवश्य उभर आई है, पर सुन्दर शैली के कारण उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से हो जाती है। अत अध्येता को किसी भी प्रकार की परेशानी नही होती। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के प्रवचनो का यह सकलन एकदम नूतन न कहा जा सके, तब भी इसमे अनेक स्थानो पर नूतनता का समावेश बडी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। सम्मति-ज्ञानपीठ आगरा से भी राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज के प्रवचनो का एक सकलन—'पर्युषण-पर्व' के नाम से हो चुका है। उसकी विषय-वस्तु एव प्रस्तुत पुस्तक की विषय-वस्तु कुछ अशो मे एक होते हुए भी दोनो की भाषा एव शैली मे पर्याप्त अन्तर है।

जहाँ तक मैंने प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन करके चिन्तन किया है, मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक का सिद्धान्त-चर्चा विभाग अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। सम्वत्सरी-पर्व को लेकर जो विवाद खडा होता है तथा पर्युषण-कल्प को लेकर जो दोषपूर्ण वातावरण बनता है, उसे शान्त करने मे यह प्रयास कहाँ तक सफल होगा यह एक विचारणीय प्रश्न है ? मेरे विचार मे प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमे ऐतिहासिक तथा परम्परागत मान्यताओ का समन्वय करने का प्रयास अवश्य किया गया है। इसी प्रकार कल्प-सूत्र और अन्तकृतदशा सूत्र की वाचनाओ के सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया गया है। यह प्रयास प्रशसनीय है।

प्रवचनकार पण्डित प्रवर मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' स्थानकवासी समाज के प्रसिद्ध लेखक, व्याख्याकार एव प्रवचनकार रहे हैं। उनके सरल स्वभाव की अभिव्यक्ति उनके प्रवचनो और लेखन मे सर्वत्र अपनी अभिव्यक्ति पाती रही है। हमारे समाज मे दूर-दूर उनकी यशोगाथा, ख्याति और प्रसिद्धि परिव्याप्त हो चुकी है। उनके इन प्रवचनो को पढकर मैं हार्दिकभाव से प्रसन्नता व्यक्त करता हूँ कि वे भविष्य मे इन विषयो पर और अधिक चिन्तन प्रस्तुत करेंगे।

श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' जो अब आगरा निवासी हो चुके हैं, अपनी सम्पादन कला के लिए समस्त समाज मे ख्याति प्राप्त व्यक्ति रहे हैं, उनकी सम्पादन कला से प्रभावित होकर अनेक विद्वान व्यक्तियो ने जिनमे सन्त और गृहस्थ दोनो हैं—अपने द्वारा लिखित अथवा अर्धलिखित ग्रन्थो का सम्पादन सरस जी से कराया है। निश्चय ही वे सम्पादन कला मे निपुण और चतुर व्यक्ति सिद्ध हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सुन्दर सम्पादन को देखकर मैं प्रसन्न हूँ।

जैन भवन, लोहामण्डी,
आगरा
दिनाक . ११ अगस्त १९७६

—विजय मुनि 'शास्त्री'

सहयोगी-परिचय

श्री लक्ष्मीलाल जी लुंकड़

श्रीयुत लक्ष्मीलाल जी लु कड मूलत. तिंवरी के अधिनिवासी हैं ।

तिंवरी जोधपुर जिले के अन्तर्गत, जोधपुर से जेसलमेर जाने वाली रेल्वे-लाइन पर मथानिया और ओसियाँ के वीच स्टेशन वाला और शस्य-श्यामला भूमि से समृद्ध एक छोटा-सा कस्वा है ।

वहाँ पर पहले ओसवाल समाज की अच्छी आवादी वाली बस्ती थी ।

आज तो कृषि व व्यवसाय की दृष्टि से तिंवरी एक सम्पन्न क्षेत्र है । परन्तु कुछ वर्षों पहले वहाँ कि ऐसी स्थिति थी कि वह व्यावसायिक क्षेत्र नहीं रह सका । अत: वहाँ के निवासी ओसवाल-सघ के सदस्य व्यवसाय के लिए इधर-उधर मध्य प्रदेश व खानदेश आदि सुदूर स्थानो पर जाकर रहने लग गये ।

श्रीयुत लक्ष्मीलाल जी के पूज्य पिताजी श्रीमान वुधमल जी ने जगदलपुर (वस्तर) को अपना व्यवसाय क्षेत्र बनाया । वहाँ पर जाकर सीधे, सरल और सौजन्य मूर्ति श्री वुधमल जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रगति की ।

श्री लक्ष्मीलाल जी श्री वुधमल जी के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं । आपके अनुज भाई का नाम श्री मोतीलाल जी है ।

आपके तीन वहिनें हैं—कसूबी वाई, चैनीवाई और पतासीवाई ।

श्रीयुत लु कडजी का अपना निम्नलिखित परिवार है—

चार पुत्र—अमरचन्द जी, नवरतनमलजी, गौतमचन्दजी व सुशीलकुमार जी ।

चार पुत्रियाँ—कमला देवी, विमला देवी, शान्तिवाई और कान्तिवाई ।

श्रीयुत लु कड जी सुयोग्य पिता के सुयोग्य सुपुत्र हैं ।

आप पुरातन परम्परा से स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी जी श्री जोरावरमलजी महाराज, स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामीजी श्री हजारीमलजी महाराज व वर्तमान मे विराजित श्रमण सघीय उपप्रवर्तक शासन-सेवी स्वामी जी श्री व्रजलाल जी महाराज, वहुश्रुत पडित-रत्न श्री मधुकर मुनिजी, श्री विनय मुनिजी व श्री महेन्द्र मुनिजी के प्रिय भक्तो मे से एक स्नेहिल भक्त हैं ।

समय-समय पर आप राजस्थान पधार कर मुनिश्री जी के दर्शनो का लाभ लेते रहते हैं । आप मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के स्तम्भ सदस्य हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन व मुद्रण में आपने एक अच्छी अर्थराशि का सहयोग दिया है । एतदर्थ यह सस्था आपका पूर्ण आभार मानती है ।

सस्था के आगे के प्रकाशनो मे भी आप अपना अर्थ सहयोग देते रहेंगे । सस्था के सभी सदस्यो की यह मन कामना है ।

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

पर्युषण एक विचार चर्चा

१	मनुष्य जीवन का लक्ष्य	३
२	पर्व एक चिन्तन	७
३	पर्युषण : शब्द और भाव	११
४	पर्युषण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	१६
५	कल्प एक विवेचन	२१
६	सावत्सरिक प्रतिक्रमण एक आवश्यक कृत्य	३१
७	पर्युषण मे करणीय कृत्य	३९
८	क्षमा पर्व क्षमा लो, क्षमा दो	४९
९	पर्युषण मे पठनीय आगम	५७

द्वितीय खण्ड

प्रेरणाप्रद प्रसंग

१	वैराग्यमूर्ति गौतमकुमार	६७
२	समुद्रकुमार आदि विशिष्ट साधक	८२
३	आठ भाइयो की अद्भुत साधना	८३
४	अणीयसेन आदि छह सहोदर अणगार	८४
५	सारणकुमार	८८
६	देहाध्यास से मुक्त समभावी साधक गजसुकुमार	८९
७	सुमुख आदि राजकुमारों का भव-तरण	१०९
८	वसुदेव-धारिणी के पुत्र तथा कृष्ण वासुदेव के पौत्र-पुत्रो का भव-भय-तरण	१११
९	महान् नारियाँ	११३

१० महारानी पद्मावती द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति ११७
११. गौरी आदि रानियो की दीक्षा १२१
१२ मकाई एव किंकम गाथापति १२३
१३ समभावी अणगार अर्जुनमाली और अभयदर्शी साधक सुदर्शन १२५
१४ सिद्ध गति प्राप्त गाथापति १३६
१५ वाल साधक अतिमुक्तक १३८
१६. वाराणसी नरेश महाराज अलक्ष का मोक्षलाभ १४६
१७ त्रयोदस रानियो की दीक्षा १४७
१८ काली-महाकाली आदि रानियो द्वारा तपश्चरण एव मोक्षलाभ १४९

परिशिष्ट १

कथाभाग

१ क्षमावीर उदायन १५९
२ दुर्दान्त शत्रु को जीतने वाला कुलपुत्र १६५
३ सर्वश्रेष्ठ तप—क्षमा १६९
४ क्रोध को कैसे जीतें ? १७४

परिशिष्ट २

तपोभाग

१ गुणरत्न सवत्सर तप १७७
२ रत्नावली तप १७७
३ कनकावली तप १७८
४ मुक्तावली तप १७८
५ लघुसिंह निष्क्रीडित तप १७९
६. महासिंह निष्क्रीडित तप १७९
७ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तप १७९
८ महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप १७९
९ भद्रोत्तर प्रतिमा तप १८०
१०. आयंबिलवर्धमान तप १८०
११ बारह भिक्षु प्रतिमाएँ १८०
१२. तपो के चित्र १८८

परिशिष्ट ३

उपशामना सूत्र १९३

प्रथम खण्ड

पर्युषण : एक विचार चर्चा

[कल्प एव पर्युषण, सावत्सरिक प्रतिक्रमण एव क्षमापना आदि पर ऐतिहासिक तथा आगमिक दृष्टि से विचार चर्चा]

१. मनुष्य जीवन का लक्ष्य
२ पर्व एक चिन्तन
३. पर्युषण शब्द और भाव
४ पर्युषण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
५ कल्प : एक विवेचन
६ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण-एक आवश्यक कृत्य
७ पर्युषण मे करणीय कृत्य
८ क्षमा पर्व क्षमा लो, क्षमा दो !
९ पर्युषण मे पठनीय आगम

१

मनुष्य जीवन का लक्ष्य

बन्धुओ !

आज का प्रवचन मैं एक कहानी से प्रारम्भ कर रहा हूँ।

एक शिष्य गुरु के पास विद्याध्ययन करने आया। वर्षों तब अध्ययन करता रहा, ज्ञानार्जन करता रहा। गुरु जी उसे ज्ञानदान करते रहे। चौबीस वर्ष बीत गये। शिष्य रात-दिन ज्ञान पढता ही रहा। सभी शास्त्रो का पारायण कर लिया, एक दिन शिष्य ने गुरु से पूछा—महाराज! अब तो मुझे काफी ज्ञान प्राप्त हो गया, सभी शास्त्रो के पन्ने पलट लिए, सब पाठ कठस्थ कर लिए अब तो ज्ञान का कुछ किनारा आया होगा? अब कितना ज्ञान और बाकी रहा है?

गुरु ने हसकर कहा—वत्स! ज्ञान तो अपार है अनन्त है। "अनन्तपार किल शब्दशास्त्रं"—इसका कोई पार नही, एक नही हजारो जन्म लेते जाओ, पढते जाओ फिर भी ज्ञान का कोई पार नही आता!

शिष्य कुछ उदास हो गया, बोला—महाराज! फिर तो यह श्रम करना ही व्यर्थ है! आप तो गुरु हैं कोई ऐसी चाबी बताइए, कि बस, चाबी घुमाई कि ज्ञान का द्वार खुल गया। कोई ऐसा उपाय है जिसके द्वारा थोडे मे ही सब कुछ पाया जा सकता हो?

गुरु ने कहा—हाँ, एक तत्व है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान अपने आप प्राप्त हो जाता है।

शिष्य के चेहरे पर जरा चमक आ गई, उसे आशा बधी कि हाँ, उस सागर का किनारा पाया जा सकता है। उसने पूछा—कस्मिन् विज्ञाते सति सर्वमिद विज्ञात भवति महाराज! वह कौन सा तत्त्व है, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है, मुझे तो वही बताइए!"

गुरु ने उत्तर दिया—आत्मनि विज्ञाते सति सर्वमिदं विज्ञात भवति—अगर आत्मा को जान लिया, तो सब कुछ जान लिया। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब ज्ञान स्वत प्राप्त हो जाता है।

वास्तव मे समस्त ज्ञान का स्रोत आत्मा है। आत्मा को जानने का अर्थ है—अपने आपको जानना। जो स्वय को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।

ससार मे दो तत्त्व है—जड और चेतन। जड पुद्गल है, अचेतन है। चेतन—आत्मा है, जीव है, ज्ञानमय है।

हमारा यह शरीर जड है, पुद्गल का पिंड है। इसके अन्दर सुख-दुख की अनुभूति करने वाला जो तत्त्व है—वह आत्मा है, वह चेतन है। शरीर मे आत्मा है, किन्तु आत्मा शरीर से भिन्न है। कहा है—

पुष्पे गन्ध तिले तैलं काष्ठेऽग्नि पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्यात्मान विवेकत।

जैसे पुष्प मे गन्ध, तिल मे तैल, काष्ठ मे अग्नि, दूध मे घी और ईख मे गुड विद्यमान है, वैसे ही विवेक से शरीर में आत्मा को देखो।

मनुष्य कहता है—यह मेरा हाथ है, यह मेरा सिर है, यह मेरी आँख है—इस उच्चारण से ही यह ध्वनित होता है कि हाथ-सिर-आँख अलग वस्तु है, और इनके साथ मेरापन का सम्बन्ध जोडने वाला—जो तत्त्व है, जिसे हम चेतन कहते हैं वह अलग है। इस प्रकार शरीर और आत्मा को अलग समझना यह भेद विज्ञान है, आत्मज्ञान है। जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, मनुष्य शरीर, धन, परिवार आदि की ममता और मोह का त्याग नहीं कर सकता। और विना ममता त्यागे साधना नहीं हो सकती। कवि नरसी भगत ने कहा है—

ज्या लगे आतमा तत्व चीन्ह्यों नहीं।
त्या लगे साधना सर्व झूठी।

वास्तव मे आत्मा को समझे विना, साधना किसकी की जायेगी? आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

अज्ञातात्मस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते।

आत्मा को जाने विना परमात्मा को नहीं जाना जा सकता। जिन्हें परमात्मा को जानने की इच्छा है उन्हे आत्मा को जानना-पहचानना होगा। जैनाचार्यों ने तो कहा है—अप्पा सो परमप्पा आत्मा सो ही परमात्मा है। इसीलिए गुरु ने शिष्य को समस्त ज्ञान सागर को एक शब्द रूपी चुलु मे भरकर दे दिया—कि आत्म-ज्ञान ही समस्त ज्ञान का सार है।

आत्मज्ञान का अधिकारी—मनुष्य

हम मनुष्य हैं, मनुष्य का अर्थ है—मननशील। जो मनन—चिन्तन, विचार करना जानता है वह मनुष्य है। पशु और मनुष्य मे यही तो अन्तर है। पशु शब्द 'पश्यति' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—देखना। अर्थात् जो सिर्फ देखता है, आँखो से देख तो सकता है, पर देखने के आगे उसकी कोई प्रगति नही है, वह है पशु! किन्तु

मनुष्य देखने के बाद उस पर विचार भी करता है, मनन करता है। इसलिए उसे मनुष्य कहा है। मनन करने वाला ही ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसलिए मनुष्य को ही आत्मज्ञान का अधिकारी माना गया है।

यह मनुष्य जीवन मोक्ष का द्वार है। भगवान महावीर ने कहा है—**माणुस्सं खु सुदुल्लहं**—मनुष्य जन्म सबसे दुर्लभ है! स्थानांग सूत्र मे बताया है—स्वर्ग के देवता भी तीन बातो की इच्छा–कामना करते रहते हैं—

तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा—

माणुस्सगं भवं	हमे मनुष्य जन्म मिले
आरिय खेत्ते जम्म	हमे आर्य देश मिले
सुकुल पच्चायाइ[1]	हमे उत्तम कुल मिले

कहा गया है कि अनन्त पुण्यो के उदय से ही मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। यह चिन्तामणि रत्न से भी अधिक दुर्लभ है। एक प्राचीन कहानी है—

कोई एक दरिद्र व्यक्ति एक बार किसी जगल मे भटक रहा था। भटकते-भटकते उसे एक चमकता हुआ मणि मिल गया। उसने समझा यह कांच का टुकडा बडा सुन्दर दीख रहा है, इसे लेकर कही बेचूंगा तो दस-बीस पैसे मिल जायेंगे। उस कांच मणि को लेकर वह जगल मे किसी वृक्ष के नीचे बैठ गया। वर्षा हो चुकी थी, ठडी हवा चल रही थी, भिखारी को खूब जोर की भूख लगी, पेट मे चूहे दड पेलने लगे तो उसकी इच्छा हुई—"ऐसे सुहावने मौसम मे तो बढिया गर्म-गर्म खीर और जलेबी मिल जाये तो बस आनन्द आ जाये।"

इच्छा करना था कि तुरन्त गर्मागर्म खीर और जलेबी के थाल उसके सामने आ गये। भिखारी तो देखकर नाच उठा और टूट पडा खीर जलेबी पर, खूब छककर खीर जलेबी खाई। जिन्दगी मे पहली बार उसे ऐसा भोजन मिला था, खूब डट कर खाया।

अधिक भोजन करने से नीद भी आती है। उसे आलस चढा, नीद आने लगी, सोचा एक अच्छा महल हो, उसमे बढ़िया पलग हो, नरम-नरम गद्दा बिछा हो तो बस नीद का मजा आ जाये।"

क्षण भर मे महल तैयार हो गया, पलग बिछ गया, नरम गद्दा लग गया। अब शीतल जल की इच्छा की तो वह भी तैयार मिल गया। भिखारी बहुत खुश था। आनन्द से नींद लेने लगा।

इधर कांच-मणि, जो वास्तव मे चिंतामणि रत्न था, और जिसके प्रभाव से ही यह सब चमत्कार हो रहा था, उसकी अधिष्ठायिका देवी ने सोचा—यह भिखारी

---

१ स्थानाग ३।३।२२१

मुझे वार-वार कष्ट तो दे रहा है, किन्तु चितामणि रत्न इसके भाग्य मे भी है या नहीं ? परीक्षा तो करनी चाहिए ! देवी ने कौए का रूप वनाया और उसी महल की मु डेर पर आकर 'काव-काव' करने लगा। भिखारी सुख से सो रहा था, उसे वहुत वुरा लगा। दो-चार वार उसने उडाया, फिर कौआ आ गया और लगा काव-काव करने। उसने सोचा—यह ऐसे नहीं भगेगा, पत्थर मारना चाहिए, वस हाथ मे जो वह कांच का टुकडा (चिन्तामणि) था उसे ही कौए को उडाने के लिए फेंका। कौए ने चितामणि चोच मे ली और फुर उड गया। अव न महल रहे न पलग ! वही सुनसान जगल और वही जन्मभर की दरिद्रता।

भिखारी सोचकर रोने लगा—अरे ! यह तो उसी कांच के टुकड़े का चमत्कार था ! अव सिर पीटे, तो पीटे पर वापस वह रत्न हाथ कैसे आये।

भाइयो ! यह एक रूपक है। यह मानव-जीवन चिन्तामणि रत्न है, इससे जो चाहे वही फल मिल सकता है, किन्तु कौए को उडाने की भांति अगर इसे विषय-वासना की पूर्ति मे ही खो दिया तो फिर पछताने से वापस मिलने का नही है। इस रत्न से तो कुछ महान कार्य करना है, जिससे एक जन्म की ही नही, किन्तु जन्म-जन्म की दरिद्रता मिट जाय, और अनन्त अक्षय सुख की प्राप्ति हो जाये। अक्षय सुखो की प्राप्ति करने का प्रयत्न करना—यही इस मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

एक विचारक ने मनुष्य की चार कोटियां वताई हैं—

हैवान—सवसे नीच, आर्त्तध्यान करने वाला

शैतान—दुष्ट, क्रूर, रौद्र ध्यान करने वाला

इन्सान—भलाई, परोपकार करने वाला, धर्म ध्यानी

भगवान—प्राणिमात्र का कल्याण करने वाला, शुक्ल ध्यानी

हम इन्सान हैं, हमे शैतान और हैवान नही वनना है, किन्तु भगवान वनना है। नीचे नही गिरना है, ऊपर चढना है—हमारे जीवन का यही लक्ष्य है—इन्सान से भगवान वनना, आत्मा से परमात्मा वनना है, नर से नारायण वनना है और जन से जिन वनना है।

जन से जिन वनने की साधना आत्म-साधना है। आत्म-साधना के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है। पर्युषण पर्व जो हमारा महान पर्व है, जिसका प्रारम्भ हो रहा है उसके प्रारम्भिक क्षण में हमे यह सकल्प करना है कि—हमे आत्मा से परमात्मा वनना है। जन से जिन वनना है। निज-भाव अर्थात् आत्म-भाव मे रमण करके जिन-भाव का वरण करना है। इसलिए हमे पर्युषण पर्व की आराधना के लिए प्रस्तुत हो जाना है।



२

पर्व : एक चिंतन

बन्धुओ !

आज पर्युषण पर्व का प्रारम्भ हो रहा है। बहुत दिनो से इस पर्वराज को मनाने की तैयारी हो रही थी, हम सब बडी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। आज यह पर्व प्रारम्भ हो रहा है।

आप लोग जहाँ तन-मन से इस पर्वराज की आराधना करने मे जुटे हैं, वहाँ कुछ जिज्ञासु सज्जनो के मन मे इस पर्व के विषय मे अनेक प्रकार के चिन्तन भी चल रहे हैं। पर्युषण का अर्थ क्या है, यह क्यो मनाया जाता है, इसमे क्या-क्या करना चाहिए ? कब मनाना चाहिए और आजकल इस पर्वराज को लेकर इतने मतभेद उग्र क्यों हो रहे हैं ? मेरा विचार है हम इन विषयों पर शास्त्रीय दृष्टि से कुछ विचार करें। परम्परा और युक्ति ध्यान मे रखकर इन प्रश्नो का सही समाधान खोजें।

एक कवि ने कहा है—उत्सवप्रिया मनुष्या.—मनुष्य उत्सवप्रिय होता है। सदा एक जैसा जीवन बिताना, एक ही लकीर का फकीर बनकर चलना उसे पसन्द नहीं है। वह रोज कुछ न कुछ परिवर्तन चाहता है। भोजन भी रोज एक जैसा पसन्द नही करता, वस्त्र भी एक जैसे पसन्द नही करता। नित नया कुछ न कुछ परिवर्तन लाते रहना—यह उसका स्वभाव है, उसकी रुचि है।

नित्य नवीनता की रुचि ने ही पर्व का आरम्भ किया है। त्योहार, उत्सव, पर्व—उसके जीवन की दिशा मे कुछ न कुछ परिवर्तन, कुछ न कुछ नवीनता लाते हैं, और यह नवीनता सभी को प्यारी है, चाहे बालक हो, वृद्ध हो, स्त्री हो या पुरुष।

पर्व का अर्थ—

'पर्युषण पर्व' भी जीवन मे एक नया परिवर्तन लाता है, मोड लाता है, उल्लास और उमग जगाता है। इसलिए इन आध्यात्मिक दिनो को हमने पर्व कह दिया है। 'पर्युषण-पर्व' मे दो शब्द है। पहले हम पर्व शब्द का विचार करें—

'पर्व' का अर्थ होता है—पवित्र दिन। शब्द शास्त्र के अनुसार पर्व के कई अर्थ होते हैं। काव्य के खण्ड को भी पर्व कहते हैं—जैसे महाभारत के शान्ति पर्व, वन पर्व, अनुशासन पर्व।

गांठ या एक छोटे हिस्से को भी 'पर्व' कहते हैं—जैसे अंगुलियो के पोरे-पैग्वे। इन्हें भी पर्व कहा गया है। गन्ने मे छोटी-छोटी जो गांठें होती है—उन्हें भी पर्व (पोर) कहते हैं।

जैनाचार्यों की दृष्टि हमेशा ही आध्यात्म-प्रधान रही है। इसलिए उन्होने पर्व शब्द का अर्थ धर्म सचय का दिन किया है—

पूरणात् पर्व-धर्मोपचयहेतुत्वाद्
धर्मपूरणं-पर्व-इति भावना।[1]

धर्म आदि आध्यात्मिक समृद्धि का सचय करने का पूर्ण करने का, जो कारण-भूत है—वह पर्व है। जैसे अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा। एक मास मे ये छह पर्व दिन होते हैं। जैन सूत्रो मे उल्लेख आता है कि श्रावक इन पर्व दिनो मे उपवास एव पौषध करके आध्यात्मिक जागरण करते थे। कषाय आदि की उपशाति करते, व्रत-वैराग्य की वृद्धि करते और ध्यान-स्वाध्याय आदि के द्वारा आत्मिक विशुद्धि की ओर अग्रसर होते। इस तरह एक प्रकार से वे पर्व दिन को वास्तव मे ही 'धर्म-सचय' या 'धर्म-सग्रह' का दिन मनाते थे।

पर्व के अनेक रूप

'पर्व' से अधिकतर उल्लास मय, त्यौहार एव पवित्र दिन का ही बोध होता है। पर्व दो प्रकार के होते हैं—१ लौकिक पर्व, और २ लोकोत्तर पर्व।

लौकिक पर्व मे—दिवाली, दशहरा, होली, रक्षाबन्धन, रामनवमी आदि वे पर्व आते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे भौतिक जगत के साथ अधिक हैं। वैसे इन पर्वों को हम तीन वर्ग मे बांट सकते हैं—

लोभ जन्य पर्व—
विजय जन्य पर्व—
भय जन्य पर्व—

दिवाली को लक्ष्मी पूजन किया जाता है, धन-धान्य की समृद्धि की कामना की जाती है, ऐसे पर्व हमारी लोभ-भावना के प्रतीक हैं।

दशहरा विजय पर्व के रूप मे मनाया जाता है। तलवार की पूजा, मनुष्य की विजय भावना का प्रतीक है। होली, शीतला सप्तमी, नागपचमी आदि पर्व भय-जन्य पर्व कहलाते हैं। देवी-देवता को प्रसन्न रखने और अनिष्ट से बचने की भावना इनमे मुख्य रहती है।

इसके अतिरिक्त भी पर्वों के पीछे अनेक प्रकार की भावना तथा इतिहास छिपा रहता है। रक्षाबधन का अलग इतिहास है, वह बहन भाई के स्नेह एव समर्पण का

---

१ श्रावक धर्मप्रज्ञप्ति, टीका ३२१, तथा पाइयसद्दमहण्णवो।

प्रतीक है, वसन्त पचमी वास्तव में सरस्वती पूजा के रूप मे ज्ञानोपासना की भावना को प्रगट करता है। बसन्तोत्सव को कुछ लोग काम-पूजा का पर्व मानते हैं। इस दिन कामदेव की पूजा की जाती है और इस ऋतु को जीवन मे भौतिक नव उल्लास का प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार जो पर्व प्रति मास हमारे दैनिक जीवन मे आते हैं, उनके पीछे, किसी महापुरुष की जीवन-गाथा, उनके जीवन की कोई विशिष्ट घटना अथवा कोई ऐतिहासिक या प्राकृतिक परिवर्तन का कारण रहता है। जैसे वसन्तोत्सव, शरदोत्सव, मकरसक्राति आदि पर्व ऋतु-परिवर्तन के समय आमोद-प्रमोद के रूप मे मनाये जाते हैं, प्राचीन समय मे भी ये पर्व प्रचलित थे आज भी विभिन्न प्रान्तो मे अलग-अलग रूप मे प्रचलित है। भाव यह है कि लौकिक पर्व के पीछे किसी न किसी प्रकार की भौतिक कामना रहती है। भले ही वह धन की कामना, विजय की कामना, भय की भावना, काम भावना या आनन्द-उल्लास की भावना हो, बस उनका उद्देश्य वही तक सीमित रहता है। अच्छा मिष्टान्न भोजन कर लिया, स्वजन-मित्रो से मिल लिए, घूमना-फिरना, खेल-क्रीडा कर ली। हमारे जीवन मे कुछ राष्ट्रीय पर्व भी आते हैं जैसे २६ जनवरी, १५ अगस्त आदि, इनके पीछे देश एव राष्ट्र-प्रेम तथा स्वतन्त्रता की भावना काम करती है।

लोकोत्तर पर्व—दूसरे प्रकार के पर्व जो हैं उन्हे हम लोकोत्तर पर्व कहते हैं, इन्हें आध्यात्मिक या धार्मिक पर्व भी कह सकते है। प्रत्येक धर्म परम्परा मे अपने-अपने विश्वास और महापुरुषो के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओ तथा परम्परागत कारणो से ये पर्व-धार्मिक पर्व के रूप मे मनाये जाते हैं। जैन परम्परा मे जैसे पर्युषण, दश लक्षण, श्रुत पचमी, महावीर जयन्ती आदि पर्व हैं, ये विशुद्ध धार्मिक पर्व है, इनके पीछे आत्म-विकास एव आत्म-शुद्धि की प्रेरणा छिपी है।

बौद्ध परम्परा मे वैशाखी पूर्णिमा एक बहुत बडा पर्व माना जाता है। बुद्ध का जन्म, बोधिलाभ एव परिनिर्वाण तीनो इसी पूर्णिमा को हुए इसलिए वहाँ वैशाखी पूर्णिमा बडा पवित्र दिन और धार्मिक पर्व के रूप मे माना गया है।

हिन्दू समाज जन्माष्टमी को बहुत बडे धार्मिक पर्व के रूप मे मनाता है। यह वासुदेव श्रीकृष्ण का जन्म-दिन होने के कारण लाखो-करोडो श्रद्धालु इस दिन उपवास करते हैं, श्रीकृष्ण की पूजा, पर्युपासना और भजन मे इस दिन को सफल बनाते हैं।

इसी प्रकार ईसाई क्रिसमस डे—जिसे ईसा का जन्म-दिन माना जाता है तथा मुसलमान रमजान और ईद-उल-फितर को धार्मिक पर्व के रूप मे मनाते हैं। रमजान के महीने मे मुसलमान बन्धु दिन मे उपवास रखते हैं, कहते हैं थूक भी नही निगलते, ईद-उल-फितर के विषय मे कहा जाता है—कि कुरान शरीफ (मुसलमानो का धर्मग्रथ) पहले पहल इसी दिन प्रकाश मे आया।[1]

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ससार मे मनुष्य चाहे किसी भी धर्म-परम्परा का हो, किसी भी देश का निवासी हो, वह अपने मानवीय स्वभाव के अनुसार जीवन

मे विविध प्रकार के पर्व मनाकर उल्लास-उत्साह, आमोद-प्रमोद के द्वारा नित-नवीन परिवर्तन और नित नयापन महसूस करना चाहता है।

लौकिक पर्वों मे जहाँ हमारी दृष्टि शरीर, धन सम्पत्ति एव आमोद-प्रमोद तक ही टिकी रहती है, वहाँ लोकोत्तर पर्व के दिनो में हमारी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी होती है। हम शरीर से ऊपर उठकर आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। जब आत्मा का दर्शन करेंगे तो परमात्मा का दर्शन भी हो जायगा, इसलिए लोकोत्तर पर्व को हम आत्म-दर्शन या परमात्म-दर्शन का पर्व कह सकते हैं। इन पर्व दिनो मे आत्मिक शुद्धि, क्रोध-कषाय आदि का त्याग कर शान्ति और समता का अभ्यास किया जाता है।

जैनधर्म की दृष्टि से इस प्रकार के लोकोत्तर पर्वों मे 'पर्युषण पर्व' का सर्वोत्तम स्थान है। पर्यूषण पर्व को—जैन भाषा मे पर्वाधिराज, या 'महापर्व' भी कहा गया है। इसका कारण इस पर्व की आध्यात्मोन्मुखी दृष्टि है। इस पर्व मे वीतराग भाव की विशेष साधना की जाती है। परस्पर के वैर-विरोध को शान्त कर क्षमा, प्रेम एव मैत्री भाव की गगा बहाई जाती है। शत्रु से शत्रु भी इस दिन एक-दूसरे को क्षमादान करके, मन को शांत एवं निर्वैर बनाने का प्रयत्न करते है। इसी दृष्टि से आजकल पर्युषण पर्व के अन्तिम दिन को क्षमावाणी अथवा विश्वमैत्री दिवस के रूप मे मनाया जाता है। इस पर्व की भावना जो एक दिन जागृत होती है। यदि हमारे जीवन मे सदा-सदा के लिए आ जाय तो समूचा ससार स्वर्ग बन जाय, फिर कोई किसी का शत्रु न रहे। सर्वत्र बधुभाव का दर्शन हो, और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न साकार हो जाय।

तो, यहाँ पर 'पर्व' के विषय में हमने चिन्तन किया। अब हम पर्युषण पर्व के सम्बन्ध मे विस्तार से चिन्तन करेंगे।

☆

३

पर्युषण शब्द और भाव

बन्धुओ,

कल हमने 'पर्व' शब्द पर चिन्तन किया, 'पर्व' के पहले 'पर्युषण' शब्द लगा है, जो इसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की सूचना करता है। आज 'पर्युषण' शब्द और भाव पर विचार करना है।

'पर्युषण' शब्द जैन सस्कृति और जैन परम्परा का एक ऐसा शब्द है जिससे छोटे से छोटा बच्चा भी परिचित है। आबाल-वृद्ध तक सर्वव्यापक यह शब्द है। हाँ, आश्चर्य तो यह है कि 'पर्युषण' इतना व्यापक शब्द होते हुए भी श्वेताम्बर जैन परम्परा मे इसकी जितनी गरिमा है, दिगम्बर जैन परम्परा मे इस शब्द का कोई विशेष प्रचलन नही देखा जाता। वहाँ 'पर्युषण' के स्थान पर 'दश लक्षणी' शब्द अधिक प्रचलित है। श्वेताम्बर पर्युषण का अन्तिम दिन और दिगम्बर 'दश लक्षणी' का प्रथम दिन—भाद्रपद शुक्ला पचमी—अर्थात् एक ही दिन है, फिर भी दोनो परम्परा में शब्द अलग-अलग है। हमे अपनी परम्परा के अनुसार इस शब्द के अर्थ और भाव पर विचार करना है। शाब्दिक दृष्टि से भी और भावात्मक दृष्टि से भी 'पर्युषण' का अर्थ—समझना है।

बहुत बार हम शब्दो के बाह्य अर्थ में ही उलझकर रह जाते हैं, शब्द के शरीर को तो पकड लेते हैं, किन्तु उसकी भावना या शब्द की आत्मा को नही पकड पाते। समझ लीजिए किसी ने खाना खाते समय कहा—सैंधव लाओ, तो आप क्या लायेंगे ? सैंधव का अर्थ सिन्धु देश मे उत्पन्न हुई वस्तु है, वह घोडा भी हो सकता है और नमक भी। घोडे को भी सैंधव कहते हैं और नमक को भी, पर खाना खाते समय सैंधव बोलने से नमक समझा जायेगा, और यात्रा व प्रस्थान के समय सैंधव से मतलब घोडा समझा जायेगा। तो यह बात हुई कि शब्द को बाहरी रूप में नही किन्तु भीतरी रूप मे पकडना चाहिए, देश-काल के अनुसार उसका भाव-आशय ग्रहण करना चाहिए।

बहुत बार ऊपर का लेबल देखकर ही हम समझ लेते है कि हमारी वस्तु सुरक्षित है। पर वास्तव मे मूल कही गायब हो जाता है। कहा जाता है कि एक बार कुछ सज्जन अमेरिका मे एक बहुत ऊँची अनेक मजिल की बिल्डिग देखने के लिए गये।

जब बिल्डिंग मे पहुँचे तो दरवान से कहा—हमे सबसे ऊपर की मजिल का वह कमरा देखना है जिससे पूरा वाशिंगटन शहर देखा जा सकता है। दरवान ने कहा—अभी लिफ्ट बन्द है, बिजली नही है और पैरो से इतनी मजिल तक चढना बहुत मुश्किल है।

दर्शक सज्जनो ने कहा—भाई, हम तो बहुत दूर से इसी बिल्डिंग को देखने के लिए आये हैं और आज शाम को ही वापस चले जाना है, कैसे भी हो चाहे पैरो से चढकर ही जाना हो हमे तो ऊपर की मजिल तक जाना ही है। बहुत आग्रह करने पर विवश दरवान उनको सीढियो से ही ऊपर लेकर चलने पर राजी हुआ। एक मजिल चढे कि उनमे से एक ने कहा देखो, ऐसे तो इतनी मजिल चढना बहुत कठिन लगेगा, कुछ अपनी-अपनी बातें सुनाते चलो ताकि समय भी कटे और चढने की थकावट भी कम महसूस हो।

प्रस्ताव सभी ने मजूर कर लिया और लगे अपनी-अपनी कहानी सुनाने, सुनाते-सुनाते काफी समय हो गया, कई मजिलें पार कर गये, पैरो मे पानी पड गया, कैसे भी करके ऊपर की मजिल मे पहुँचे तब तक सब की बातें समाप्त हो गईं और दरवान से बोले—अब तुम भी कुछ अपनी बात सुनाओ।

दरवान ने मुँह लटकाकर कहा—मैं क्या सुनाऊँ। जिस कमरे को देखने के लिए आप लोग इतनी मजिलें चढे हैं उसकी चाबी तो मैं नीचे ही भूल आया।

सभी एक-दूसरे का मुँह ताकते रह गये। इतना कठिन परिश्रम पानी मे मिल गया। इतनी मजिलें तो पार कर ली पर चाबी नीचे ही छूट गई! सब किया-कराया गुड गोबर!

आज वैसी ही कुछ दशा हम लोगो की हो रही है। पर्युषण का ढिंढोरा तो हम लोगो ने बहुत पीटा है, पर्युषण को और सवत्सरी को लेकर अनेक वाद-विवाद, झगडे, मतभेद भी किये हैं, पर पर्युषण का भाव क्या है, इसकी मूल चाबी कहा है? यह हम कही भूल ही गये हैं। यही सबसे बडी भूल आज हो रही है। इसलिए हमे पर्युषण के शब्द और भाव-दोनो पर कुछ गहराई से विचार करना है।

पर्युषण का शब्दार्थ

पर्युषण—मूलत प्राकृत भाषा का पज्जुसणा शब्द है। प्राकृत मे इस प्रकार के दो शब्द मिलते है—

पज्जुसणा—पर्यूषणा
पज्जोसमणा—पर्युपशमना

कल्पसूत्र की टीकाओ मे तथा अन्य ग्रन्थो मे 'पर्युषणा' के पर्यायवाची और शब्द भी मिलते हैं—जो इस प्रकार है—

(१) परियायठवणा (२) पज्जोसमणा
(३) पागइया (४) परिवसणा

(५) पज्जुसणा (६) वासावास
(७) पढमसमोसरण (८) ठवणा
(९) जेट्ठोग्गह

ये शब्द यद्यपि पर्यायवाची हैं, किन्तु शब्द शास्त्र की दृष्टि से कोई भी शब्द अपना स्वतन्त्र अर्थ रखता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रत्येक शब्द का अर्थ कुछ न कुछ भिन्न होता ही है। जैसे साधु, श्रमण और मुनि ये शब्द पर्यायवाची होते हुए भी इनका अर्थ अलग-अलग भी किया जाता है—जो आत्म-साधना करे—वह साधु। जो तप आदि मे श्रम करे—वह श्रमण। जो सावद्य एव पापकारी प्रवृत्तियो मे मौनभाव रखे—वह मुनि। इसी प्रकार पर्युषणा के पर्यायवाची शब्दो का अलग-अलग अर्थ भी प्राचीन आचार्यों ने किया है, जिस पर थोडा-सा विचार करना जरूरी है।

(१) **परियायठवणा**—का अर्थ है पर्युषणकाल से साधुओ की दीक्षा पर्याय गिनी जाती थी, जैसे जिसे दीक्षा लिए जितने पर्युषण बीत गये वह उतने वर्ष का दीक्षित कहलाता था। दीक्षा की ज्येष्ठता एव कनिष्ठता का कारण, पर्युषण को मानने से इसे 'परियाय ठवणा' कहा है।

(२) **पज्जोसवणा**—इस काल मे द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव सम्बन्धी विशेष प्रकार की क्रियाएँ की जाती हैं। जैसे तपश्चरण, केशलोच, प्रतिक्रमण आदि। अत इसे 'पर्युषणा' अथवा राग द्वेष की उपशाति हेतु विशेष आराधना की जाती है। इसलिए—'पर्युपशमना' कहा गया है।

(३) **पागइया**—गृहस्थ एव साधु आदि के लिए सहजभाव से यह समाराधनीय है—इसलिए प्राकृतिक पर्व है यह। इस शब्द से पर्युषण की शाश्वत सत्ता की सूचना भी मिलती है।

(४) **परिवसना**—इस काल मे साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है, अत इसे परि (सर्वथा प्रकार से) वसना (रहना)—आत्मा के निकट रहना कहा है।

(५) **पज्जुसणा**—साधक इस अवधि मे पर्युपासना-ज्ञान-दर्शन-चरित्र तथा देव-गुरु-धर्म की सेवा विशेष भाव के साथ करे, इसलिए—यह पर्युपासना भी है।

(६) **वासावास**—यह काल 'वर्षाकाल' कहलाता है और उस काल मे साधक एक स्थान पर निवास करता है अत उसे 'वर्षावास' भी कहा है।[1]

(७) **पढमसमोसरण**—प्रावृट् काल वर्ष का प्रथम काल (मास है) अर्थात् आषाढी पूर्णिमा को सवत्सर पूर्ण होने के बाद श्रावणी प्रतिपदा से नया वर्ष प्रारम्भ

---

१ बृहत्कल्प सूत्र उद्दे १, सूत्र ३५ की निर्युक्ति मे वर्षावास के दो भेद किये हैं—१ प्रावृट् और २ वर्षारात्र। श्रावण-भाद्रपद के दो महीने प्रावृट् एव आश्विन-कार्तिक के दो महीने वर्षारात्र कहे गये हैं।

होता है, और यह उसका प्रथम दिन माना गया है, इसलिए 'पढम समोसरण' भी कहा गया है।[1] दिगम्बर मान्यता के अनुसार भगवान महावीर की प्रथम देशना श्रावणी प्रतिपदा को ही हुई थी।

(८) ठवणा—यह काल 'स्थापना' काल है। अन्य काल व ऋतु मे साधु को कही स्थिर रहने की कोई निश्चित अवधि नहीं है, किन्तु इस काल अवधि मे चार मास की 'स्थापना' हो जाती है, इसलिए इसे स्थापना (ठवणा) कहा है।

(९) जेट्ठोवग्गह—अन्य ऋतुओ मे श्रमण एक स्थान पर एक-एक मास तक रह सकता है जबकि इस काल अवधि मे चार मास तक एक ही स्थान पर रहता है, यह उन क्षेत्रावग्रहो मे बडा है अत. इस 'ज्येष्ठावग्रह' कहा है।

पर्युषण के इन विविध पर्यायवाची शब्दो पर विचार करने से अनेक बातें हमारे सामने आती हैं, जिन पर विस्तार से विचार किया जा सकता है, लेकिन हमे यहाँ सिर्फ पर्युषण के भावार्थ पर ही विचार करना है।

(१) पर्युषण—'परि' उपसर्ग है, और 'वस' धातु से अन् प्रत्यय लगने पर उससे 'पर्यषण' शब्द बना है। परि का अर्थ है—सम्पूर्ण रूप से अथवा निकट मे, वस का अर्थ रहना है—इस प्रकार पर्युषण शब्द का अर्थ होता है सम्पूर्ण रूप से रहना, अथवा समीप रहना।[2] इसके दोनो ही अर्थ ठीक बैठते हैं—इस काल में श्रमण एक स्थान पर स्थिर रहता है, अत वह 'पर्युपण' कहलाता है।[3] दूसरे अर्थ मे इस काल अवधि मे श्रमण विशेप प्रकार से आत्मा के समीप रहता है। आत्मा अनन्त काल से मिथ्यात्व, मोह, कषाय आदि के चक्कर मे फँसा हुआ अपने स्वरूप से बहुत दूर भटकता रहा है। एक प्रकार से अपने स्वरूप को भूल ही गया है। और जो अपना स्वरूप नहीं है, पर पदार्थ है—राग-द्वेप जो आत्मा के शत्रु हैं उनके पास अधिक रहता है। आत्मा अपने घर में नहीं किन्तु दूसरे के शत्रु के, घर मे रह रहा है। तो इस काल में उस पर घरवासी आत्मा को अपने घर मे वापस बुलाने का प्रयत्न किया जाता है। अपने निकट-अर्थात् अपने ज्ञान-दर्शन-मय स्वरूप के निकट लाने का विशेप प्रयत्न किया जाता है। इसलिए इसे पर्युपण-अर्थात् अपने आप मे निवास करने का अवसर कहा गया है।

कुछ व्याख्याकार 'परि' उपसर्ग के आगे 'उष दाहे' धातु लगाकर इसका अर्थ करते हैं—सम्पूर्ण रूप से दग्ध करना या जलाना।[4] इसका अर्थ हुआ, कर्मरूपी मेल को, कपायरूपी शत्रुओ को भस्म करने का प्रयत्न करना, कर्म आठ है इसलिए एक-एक दिन एक-एक कर्म को भस्म करने का प्रयत्न कर पर्युषण के आठ दिन में आठ कर्मो का क्षीण करने की प्रक्रिया करना—यह पर्युषण का अर्थ है।

---

१ निशीथ भाष्य-गाथा ३१३८।

२ पज्जोसणाकप्पे ति परि-सामस्त्येन, उपणा-वसनं पर्युपणा।—सुबोधिका व्याख्यान ९।

३ पज्जोसवेइ—परिवसति—समवायाग टीका ७०।

४ परि समन्तात् ओपति—दहति समूल कर्मजाल यत् तत् पर्युषणम्।

(२) पर्युपशमना—प्राकृत पज्जोसवणा शब्द का पर्युपशमना अर्थ होता है। जिसका भाव है—सब प्रकार से शाति, उपशाति करना।

वर्षाकाल मे जिस प्रकार शीतल जलधारा वर्ष कर धरती का ताप और प्यास शात करती है, भूमि जलधारा से परितृप्त होकर शांत हो जाती है उसी प्रकार साधक—आत्मा के कषायो को, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी अग्नि को, मिथ्यात्व रूपी ताप को, समता, शाति, वैराग्य एव ज्ञान की शीतलधारा से स्वाध्याय तप की जलवृष्टि से पूर्णरूप से शांत करने का प्रयत्न करता है—इसलिए इस काल को पज्जोसमणा अर्थात् पर्युपशमना सर्वथा प्रकार की शान्ति, अपूर्व आत्म-शान्ति की अनुभूति करने का सुअवसर बताया गया है।

पर्युषण के कर्त्तव्य, जो आगे बताये जायेंगे उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह काल वास्तव में ही क्रोधादिक की पर्युपशमना का, शान्ति की साधना का काल है। खमत-खामणा, आलोचना, प्रतिक्रमण एव तपश्चरण द्वारा कषायो की उपशान्ति का प्रयत्न इस काल मे किया जाता है। इसी मे इस पर्युषण शब्द की सार्थकता है।

अगर हम पर्युषण शब्द के इन रहस्यो की चाबी को भूलकर सिर्फ उत्सव और समारोह के चक्कर मे ही पड़े रहे तो हमारी वही स्थिति होगी, जो उन ऊपर की मजिल पर जाने वाले व्यक्तियो की हुई, जो चाबी नीचे ही भूल गये थे।

पर्युषण को सार्थक बनाने के लिए और आत्म-शुद्धि के लिए हमे इन शब्दो की गहराई पर विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

☆

४

पर्युषण : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वन्धुओ !

'पर्युषण' शब्द के अनेक अर्थ और उनसे व्यक्त होते आध्यात्मिक अभिप्राय आपके सामने स्पष्ट किये गये हैं। यह तो आपने समझ लिया होगा कि 'पर्युषण' आत्मिक शान्ति, मानसिक शुद्धि एव निर्मलता का सूचक है। अब साथ ही एक प्रश्न खडा होता है, पर्युषण पर्व की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि क्या है ? आज आपके समक्ष इसी विषय पर विचार करना है।

साधारण बोलचाल की भाषा मे हमारे श्रद्धालु श्रावक या सतजन भी कह देते हैं—पर्युषण पर्व अनादि है, शाश्वत है। किन्तु आज का चिन्तक वर्ग या तर्कशील मानम इस बात को सहसा स्वीकार नही करता। वह प्रश्न उठाता है कि क्या पर्युषण शाश्वत एव अनादि है, या इसकी आदि भी है ?

इस विषय पर हमे प्राचीन आगम एव उन के भाष्यो के आधार पर विचार करना है।

सर्वप्रथम—जैसा मैंने पर्युषण शब्द का अर्थ किया है। उसमे एक अर्थ काल-वाची है, दूसरा भाववाची। पर्युषण वर्षावास से सम्बन्धित कालवाचक जहाँ है, वहाँ उसे हम अनादि या शाश्वत नही कहेंगे। क्योकि दस कल्प मे वह एक अनवस्थित (अनियत) कल्प माना गया है। वह सिर्फ प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही होता है, मध्यकाल के बाईस तीर्थंकरो के समय में पर्युषण-कल्प जैसा कोई कल्प विहित नहीं है, न महाविदेह मे ही पर्युषण कल्प का कोई विधान है, इस दृष्टि से अर्थात् काल की दृष्टि से पर्युषण कल्प कोई शाश्वत कल्प नही है। वह वर्षावास काल में एक स्थान पर रहने का कल्प है, और सिर्फ दो तीर्थंकरो के समय मे ही उसका विधान है।

पर्युषण—शब्द को भाववाचक जहाँ हमने माना है, और उसका अर्थ आत्मा के निकट निवास करना, अथवा कषायो की उपशान्ति करना यह अर्थ लिया है। वहाँ हम उसे शाश्वत 'पर्व' मान सकते हैं। इस प्रकार हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि पर्यु-षणा—भाव की दृष्टि से शाश्वत है, अनादि है, सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

आत्मस्थ एव वीतराग होने की जैसी आवश्यकता भरतक्षेत्र वासी प्राणी को है, वैसी ही आवश्यकता महाविदेहवासी प्राणी को भी है। प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणो को जितनी वीतरागता और तितिक्षा तथा शाति की अपेक्षा है उतनी ही मध्यवर्ती श्रमणो को भी है। इस कारण भाव की दृष्टि से पर्युषण न केवल एक युग, एक मास व निश्चित समय सापेक्ष है, किन्तु जीवन के प्रत्येक क्षण मे वह मनाया जा सकता है।

काल दृष्टि से पर्युषण

जैन काल गणना के अनुसार भरत और ऐरवत क्षेत्र मे उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का वीस कोडाकोडी सागर का एक काल-चक्र होता है। वर्तमान अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा चार कोडाकोडी सागर का, दूसरा तीन कोडाकोडी और तीसरा दो कोडाकोडी सागर का माना गया है। इसमे तीसरे आरे के अन्तिम भाग मे जब तक अकर्मभूमि युग (युगलिया युग) चलता है तब तक पर्युषण जैसा कोई पर्व नही होता। जब कर्मभूमि युग का प्रारम्भ होता है, प्रथम तीर्थंकर का तीर्थ प्रवर्तित होता है तब पर्युषण का प्रारम्भ होता है। भगवान ऋषभदेव के तीर्थ मे पर्युषण की व्यवस्था थी। उनके निर्वाण के पश्चात् चतुर्थ आरे मे भगवान अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक पर्यषण कल्प जैसी कोई व्यवस्था नही थी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि पर्युषणकल्प काल-सापेक्ष कल्प है। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल मे प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे यह कल्प प्रचलित रहता है इस दृष्टि से इसे हम शाश्वत भी कहे तो कोई आपत्ति नहीं है।

पर्युषण कब ?

पर्युषण कल्प के सम्बन्ध मे एक विकट प्रश्न यह भी खडा है कि पर्युषण कब मनाया जाय ? वास्तव मे पर्युषण कब होता है ?

यह प्रश्न बर्र का छत्ता है, इसे छेडना एक प्रकार का साम्प्रदायिक क्लेश-द्वेष तथा विवाद खडा करना है। जिस वर्ष दो श्रावण या दो भाद्रपद होते हैं उस वर्ष तो जैन समाज की वडी ही विकट स्थिति वन जाती है, अनेक प्रकार के विवाद और फिर उन विवादो से जन्मा—उन्माद-क्लेश पर्युषण की समस्त शाति को खा जाता है और पर्युषण उपशमना का, क्षमायाचना और वीतराग साधना का पर्व तू-तू मैं-मैं का पर्व वन जाता है। ऐसी स्थिति से मन वडा ही खिन्न होता है, पर **"दृष्टिरागस्तु पापीयान्"**—सम्प्रदाय का राग सवसे वडा पाप है, यह मान कर ही मन को समझाना पडता है।

पर्युषण के सम्बन्ध में विवाद करने वाले वन्धु अगर थोडा-सा शास्त्रीय ज्ञान रखे, अथवा निष्पक्ष दृष्टि से शास्त्रो का कथन समझने का प्रयत्न करे, तो समाज मे ये विग्रह इतने विकट न बने।

मैंने जैसा बताया कि बाईस तीर्थंकरों के युग मे पर्युषण कल्प जैसा कोई

विधान नहीं है। वर्षावास मे एक नियत स्थान पर नियत काल तक रहने का उनके लिए कोई नियम नही है। एक क्षेत्र मे रहने से यदि कोई दोष की सभावना न हो तो वे पूर्व कोटि वर्ष तक भी रह सकते हैं, अगर दोष की सभावना हो तो एक मास भी नही। इसीप्रकार वर्षावास मे जब तक वर्षा होती रहे वे एकस्थान पर निवास करते हैं, वर्षा न हो तो वे कभी भी विहार कर सकते हैं।[1]

किन्तु प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के युग में ऐसा कल्प नही है। उनके लिए निश्चित विधान है कि वे आषाढीपूर्णिमा को एक स्थान पर निर्दोष स्थान देखकर स्थित हो जायें—अर्थात् पर्युषण करलें। यदि आषाढी पूर्णिमा तक उन्हें कोई निर्दोष स्थान की प्राप्ति न हो तो पांच-पांच दिन के अन्तर से अर्थात् श्रावण वदी पचमी, दसमी आदि यों प्रत्येक पांच दिन के अन्तर से पर्व तिथि को निर्दोष स्थान की प्राप्ति होने पर पर्युषण करले। अगर ऐसा करते-करते एक मास और वीस दिन बीत जाये, तब भी निर्दोष स्थान न मिले तो आखिर आषाढी पूर्णिमा के पचासवें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्लापचमी को तो निश्चित रूप मे ही पर्युषण कर ले, भले ही किसी वृक्ष की छाया मे ही खड़ा रहकर पर्युषण करना पड़े।[2] किन्तु उस पर्व तिथि (पचमी) का उल्लघन न करे और उसके बाद सत्तर दिन तक स्थिरवास रहकर वर्षावास विताये। समवायाग एव कल्पसूत्र मे भगवान महावीर के विषय मे भी यही उल्लेख है कि श्रमण भगवान महावीर ने वर्षावास के एक मास वीस दिन व्यतीत होने के पश्चात् पर्युषण किया।[3]

इस पाठ से एक बात स्पष्ट होती है कि आषाढी पूर्णिमा से भाद्रपद सुदी पचमी तक मध्य के किसी भी पर्वदिन (पचमी-दशमी-पूर्णमासी) में पर्युषण किया जा सकता है[4] किन्तु वर्षावास के सत्तर दिन फिर एक ही स्थान पर बिताना होता है। उसका उल्लघन करना नहीं कल्पता। क्योंकि भगवान महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन और वर्षावास के सत्तर दिन अवशेष रहने पर पर्युषण किया—इसलिए वर्तमान परम्परा अपने आराध्य देव का अनुसरण कर भाद्रपद शुक्ला पचमी को पर्युषण करती है।

---

१ दोसाऽसतिमज्झिमगा अच्छती जाव पुव्वकोडी वि।
विचरति य वासासु वि अकद्दमे पाणरहिए य॥
—बृहत्कल्प भाष्य, ६४३५

२ सवीसति रातिमासे पुण्णे जति वासखेत ण लब्भति, तो रुक्ख हेट्ठा वि पज्जोसवेयव्व।
—निशीथ चूर्णि, ३१५३

३ समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराए मासे विइक्कते वासावास पज्जोसवेइ।
—समवायाग ७० वां स्थान; आयारदशा ८, कल्पदशा

४ अन्तरा वि य से कप्पइ, नो से कप्पइ त रयणि उवाइणावित्तए।
—आयारदशा ८।७

पर्युषण पर्व की यही ऐतिहासिक एव शास्त्रीय पृष्ठभूमि है।

उक्त सूत्र मे ही यह प्रश्न किया गया है कि भगवान ने एक मास और बीस रात्रियाँ व्यतीत होने पर पर्युषण क्यो किया ?

उत्तर मे समाधान देते हुए कहा है—उस समय तव गृहस्थो के घर बास आदि की चटाइयो से बांध दिए जाते हैं, गोबर आदि से लीप लिए जाते हैं, पानी आदि की नालियाँ साफ करली जाती हैं, मतलब यह है कि गृहस्थ अपने लिए मकान आदि की व्यवस्था कर लेता है और तब साधु-श्रमणो को निर्दोष शुद्ध स्थान मिलना सभव हो जाता है।

जिस प्रकार भगवान ने वर्षाकाल का एक मास बीस रात्रि व्यतीत होने पर वर्षावास का निश्चय किया, उसी प्रकार उनके गणधर, स्थविर, अन्य आचार्य, उपाध्याय आदि भी पर्युषण का निश्चय करते हैं।[1]

पाँच-पाँच दिन से पर्युषण की स्थापना करने के विधान के पीछे एक कारण और भी लक्षित होता है। भगवान महावीर ने जब अपना प्रथम वर्षावास दुईज्जतक तापसो के आश्रम मे करने का निश्चय किया और आषाढी पूर्णिमा के अवसर पर वहाँ पहुंच गये। अपनी साधना प्रारम्भ कर दी तो बीच ही मे एक घटना घट गई। दुष्काल के कारण आस-पास मे कही घास-फूस नही था, पशु-गायें आदि भूखो मरते, आकर तापसो की झोंपडियो का घास-फूस खाने लगे। तापस लोग अपनी झोपडियो की रक्षा के लिए दण्ड लेकर उन पशुओ को भगा देते। भगवान महावीर जिस झोपडी मे ठहरे थे, पशु उधर आकर उस झोंपडी का घास खाने लगे। भगवान तो अपनी आत्म-साधना मे लीन थे। वे तो अपने स्वर्ण-जटित राजमहलो को ही छोड आये तो झोपडी की क्या फिकर करते। साधना को भग कर दडा ले पशुओ को भगाने मे वे कैसे प्रवृत्त होते। उनको ध्यानस्थ देखकर आश्रमवासी तापसो ने कुलपति से कहा—"यह कैसा आलसी तपस्वी है, जो अपनी झोपडी की रक्षा भी नही करता।" तब कुलपति ने श्रमण महावीर से कहा—राजकुमार, तुम क्षत्रिय पुत्र होकर भी अपनी झोपडी की रक्षा नहीं करते ? इससे तो पशु आश्रम की झोपडियो को उजाड देंगे।"

कुलपति का यह आक्षेपपूर्ण कथन सुनकर भगवान मौन रहे। पर, उनके हृदय के भीतर एक हलचल मच गई, "जहाँ रहने से लोगो में ऐसी अप्रीति का वातावरण बनता हो, वहाँ रहने से क्या लाभ है ? श्रमण को ऐसे अप्रीति कर स्थान पर नहीं रहना ही ठीक है।" यह विचार कर वर्षाकाल मे ही भगवान वहाँ से विहार कर गये और अस्थिक ग्राम मे आकर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन मे वर्षावास विताया।

इस अनुभव ने सभवत यह विचार जगाया हो कि जैसे मुझे वर्षावास में अप्रीतिकरस्थान के कारण विहार करना पडा, वैसे अन्य श्रमणो के समक्ष भी ऐसी

---

१ आयारदशा ८वी दशा

स्थिति आ सकती है, और तब उन्हें भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना पड़े। इस कारण यह कल्प रखा गया कि आषाढी पूर्णिमा के पश्चात् भी जब तक उपयुक्त स्थान न मिले तो श्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर रहे, ४६ दिन तक रहने पर यह भी अनुभव हो जाता है कि यह स्थान वास्तव मे प्रीतिकर है, साधना के लिए निर्दोष है, इसलिए ४६ दिन के बाद ५० वें दिन निश्चित रूप से ही सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कर पर्युषण की स्थापना अर्थात् वर्षावास की स्थापना कर दे और फिर ७० दिन तक उसी स्थान पर रहे।

पर्युषण पर्व मनाने की यही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। हमारे विचारक मुनिराज एव श्रावक यदि उदार दृष्टिकोण से चिन्तन करें तो इस पृष्ठभूमि के आधार पर पर्युषण का विवाद बहुत आसानी से सुलझ सकता है।

पर्युषण मे प्रथम के ५० दिन की अपेक्षा आगे के ७० दिन को अधिक महत्त्व दिया गया है, उन सत्तर दिन के पूर्व निश्चित रूप से पर्युषण करना ही होता है, और उसके बाद सत्तर दिन एक ही स्थान पर बिताना आवश्यक है—इस दृष्टिबिन्दु से यदि हम अगले ७० दिन का महत्त्व एक मत से स्वीकार कर लें तो विवाद बहुलाश मे सुलझ सकता है और पर्युषण पर्व वास्तव मे ही एक स्वर से, एकमत से मनाया जा सकता है। अर्थात् भगवान महावीर की परम्परा का सच्चा पालन हो सकता है।



५

कल्प : एक विवेचन

वन्धुओ !

कल के प्रवचन मे मैंने वताया कि दस कल्पो मे पर्यु षण कल्प—एक अनियत कल्प माना गया है, यह प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही होता है। इस पर स्वभावत ही आप यह जानना चाहेंगे कि कल्प क्या होता है, उनमे नियत कल्प कौन से हैं, अनियतकल्प कौन से है ? और पर्यु षणकल्प से उसका क्या सम्वन्ध है ? यहाँ पर सक्षेप मे इसी विषय पर विचार करना है।

कल्प का अर्थ

कल्प शब्द जैन परिभाषा का मुख्य शब्द है। इसका अर्थ है—आचार, मर्यादा अथवा समाचारी। कहा है—"कल्पशब्देन साधूनामाचारोऽत्र प्रकथ्यते"[1] कल्प शब्द के द्वारा यहाँ साधुओ का आचार वताया गया है।

आचार्य उमास्वाति ने तो कल्प शब्द को और भी अधिक व्यापक रूप दिया है। उन्होंने कहा है—

> यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रह च दोषाणाम्।
> कल्पयति निश्चये यत् तत्कल्पमवषेयम्।[2]

जिस कार्य या आचरण से ज्ञान, शील, तप आदि की वृद्धि हो और उनके विघातक दोषो का नाश हो, वह कल्प है।

प्राचीन आचार्यों ने साधु के आचारकल्प का अनेक प्रकार से वर्णन किया है।

आयारदशा की आठवीं दशा, जो पर्यु षणा कल्पदशा कहलाती है उसमे साधुओ के विविध आचार नियमों का वर्णन करके २७ प्रकार की समाचारी बताई है।

---

१ पर्यु षणाकल्प सूत्र, पृ० १

२ प्रशमरति प्रकरण १४३

कल्प के नाम से जैन परम्परा मे दश कल्प भी बहुत प्रसिद्ध है। वृहत्कल्प-भाष्य मे इन दश कल्पो का नाम व वर्णन इस प्रकार किया है—

आचेलक्कुद्देसिय
सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
वतजेट्ठ पडिक्कमणे,
मासं पज्जोसवणा कप्पे।

१. आचेलक्य	६ व्रत
२ औद्देशिक	७ ज्येष्ठ
३ शय्यातर पिंड	८ प्रतिक्रमण
४. राजपिंड	९ मासकल्प
५ कृतिकर्म	१०. पर्युषण कल्प

ये दस कल्प वताये गये हैं।

सक्षेप में इनका वर्णन इस प्रकार है—

१ आचेलक्य—'चेल' का अर्थ है वस्त्र, और अचेल का अर्थ है—वस्त्र रहित। किन्तु शब्द शास्त्र की दृष्टि से अचेल का अर्थ—'अल्प वस्त्र' भी होता है। कम वस्त्र या कम मूल्य वाले सादे वस्त्र रखना भी एक प्रकार की अचेलकता ही है। आचाराग, उत्तराध्ययनसूत्र एव कल्पसूत्र की टीका मे अचेलक का अर्थ—'कम वस्त्र' रखना ही किया है।[2]

जैन श्रमणो मे दो प्रकार के श्रमण वताये गये हैं—जिनकल्पी श्रमण और स्थविरकल्पी श्रमण। जिनकल्पी श्रमण भी पहले स्थविरकल्पी होते है, फिर विशेष अध्ययन एव विशिष्ट सहनन के आधार पर उन्हें जिनकल्प स्वीकारने की अनुमति शास्त्रों ने दी है। जिनकल्पी श्रमण—वस्त्र नही रखते, विशेष प्रकार का अभिग्रह आदि करके प्राय एकात एव निर्जन स्थान मे ध्यान कायोत्सर्ग आदि मे लीन रहते हैं।

स्थविरकल्पी श्रमण वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि शास्त्र-विहित उपकरण रखते हैं। उनके वस्त्र आदि की भी मर्यादा शास्त्र मे वताई है। मर्यादा के अनुसार ही उनका आचरण होता है।

प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण अचेलक होते हैं—अचेलक का अर्थ टीकाओ मे किया है—श्वेत वस्त्र, मर्यादानुकूल अल्पमूल्य वाले वस्त्र।[3]

सचेलक का अर्थ है—किसी भी रग के, कितने ही मूल्य के वस्त्र रखना।

---

१ वृहत्कल्पभाष्य ६३६४

२ (क) अचेल —अल्पचेल —आचाराग टीका, पत्र २२१-२
(ख) उत्तरा० वृहद्वृति (ग) कल्पसूत्र सुवोधिका, पत्र ३

३. कल्पार्थवोधिनी, पृ० १

यह मध्य के बाईस तीर्थंकरो का कल्प है, अर्थात् वे श्रमण इतने विवेकशील तथा सयम निष्ठा वाले होते थे कि उनके लिए वस्त्र-पात्र आदि की विशेष मर्यादा की भी जरूरत नही, अपने विवेक के अनुसार वे सदा ही जागरूक रहते है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से यही प्रश्न किया है—भगवान महावीर का धर्म अचेलक है, और भगवान पार्श्वनाथ का सचेलक। इस भेद का क्या कारण है?

गौतम स्वामी ने बडा ही सुन्दर समाधान देते हुए कहा है—ये उपकरण आदि तो साधना के बाह्य निमित्त हैं, लोको मे वेष के कारण साधु की पहचान होती है,[1] इसलिए वस्त्र आदि की मर्यादा समयानुसार की गई है, वास्तविक तत्त्व तो वीतरागता है और वह सब तीर्थंकरो के धर्म-शासन मे एक समान मान्य है? इसलिए बाह्य भेद कोई महत्व नही रखता। मुख्य बात है, वस्त्र आदि के प्रति ममत्व नही रखना। फिर भी समय के अनुसार मनुष्यो की मनोवृत्ति देखकर कल्प के, मर्यादा के दो रूप कर दिये—सरल एव विवेकशील साधक चाहे जैसे वस्त्र पहनें, तथा ऋजु जड एव वक्रजड (प्रथम, अन्तिम तीर्थंकर युग के) साधक सिर्फ श्वेत तथा अल्पमूल्य वाले वस्त्र पहने तो अचेलकल्प का अर्थ हुआ—श्वेत, प्रमाणोपेत एव कम मूल्य वाले सादे वस्त्र धारण करना।

२ औद्देशिक—इसका अर्थ है—श्रमण को देने के उद्देश्य से निर्मित वस्त्र, भवन, अन्न-जल आदि। प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो के श्रमणो के लिए औद्देशिक आहार आदि निषिद्ध है, अर्थात् यदि किसी एक श्रमण के लिए भी आहारादि बनाया गया है तो न वह श्रमण उसे ग्रहण करें और न अन्य श्रमण ही। किन्तु बाईस तीर्थंकरो के युग मे यह विधान है कि—जिस श्रमण को निमित्तकर आहारादि बनाया है, उसे वह श्रमण तो ग्रहण नही करता, किन्तु अन्य श्रमण ग्रहण कर सकते हैं। यह औद्देशिक कल्प है।

३ शय्यातर-पिण्ड—शय्या का अर्थ है—उपाश्रय, स्थान आदि। साधु-सन्तो को ठहरने के लिए निर्दोष स्थान आदि देने वाला ससार समुद्र से तर जाता है। इसीलिए उसे शय्यातर कहा है, इससे स्थान-दान का महत्व झलकता है। स्थान देने वाले गृहस्थ के घर से श्रमण अशन, पान-स्वादिम-खादिम वस्त्र औषधि आदि ग्रहण नही करता। उस शय्यातर का आहार आदि 'शय्यातर पिण्ड' कहलाता है। यह कल्प सभी तीर्थंकरो के युग मे समान रूप से पालनीय होता है।

४ राजपिण्ड—इसका अर्थ है—राजा का भोजन। राजा आदि का भोजन, विशेष गरिष्ठ, मादक, उत्तेजक माना गया है। साथ ही राजाओ की भोजनशाला आदि मे भिक्षा के लिए जाने से अनेक प्रकार के दोष व विघ्न-व्यवधान भी होते हैं,

---

१ लोगे लिगप्पओयण—उत्तरा० २३/३२

इस कारण साधु को राजपिण्ड लेना निषिद्ध किया है। इसका मुख्य उद्देश्य है—रस-लोलुपता न बढ़े, अनेषणीय आहार ग्रहण करने का प्रसग न आये।

५ कृतिकर्म—सयम आदि मे अपने से ज्येष्ठ एव गुणो मे श्रेष्ठ श्रमणों का बहुमान करना, उन्हें वन्दना करना तथा उनकी विनय-भक्ति करना कृतिकर्म कल्प है, यह कल्प सार्वकालिक है—चौवीस तीर्थंकरो के समय मे एक समान है। इससे यह बात भी ध्वनित होती है कि—जिन शासन मे 'विणयमूले धम्मे' धर्म का मूल विनय कहा है, यह एक शाश्वत सिद्धान्त है। किसी भी युग मे विनय का महत्व और जीवन मे उसकी उपयोगिता एक समान रही है।

६ व्रत—यह छठा कल्प है। असत् से निवृत्ति करना तथा सत् (शुभ) मे प्रवृत्ति करना—यह व्रत का अर्थ है। व्रत-से सिर्फ त्याग या निवृत्ति-विरति अर्थ ग्रहण करना उसका एकागी अर्थ है। जैन धर्म अनेकान्तवादी धर्म है, अत वह निवृत्ति में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति मे निवृत्ति का समन्वय करता है। जैसे पांच समिति—यह प्रवृत्ति रूप धर्म है, तीन गुप्ति—यह निवृत्ति रूप धर्म है। अहिंसा आदि महाव्रत हिंसा से निवृत्ति तथा दया आदि मे प्रवृत्ति रूप—उभयात्मक धर्म है।

भगवान ऋषभदेव एव भगवान महावीर के युग मे पांच महाव्रत रूप धर्म प्रवृत्त होता है, जबकि मध्य के बाईस तीर्थंकरो के युग मे चतुर्महाव्रतधर्म जिसे चातुर्याम धर्म कहा जाता है, वह रहता है।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि तीर्थंकरो के युग मे धर्म-अर्थात् व्रतो मे यह भेद क्यो किया गया है? यह प्रश्न आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ परम्परा के उत्तराधिकारी केशी श्रमण के मन मे भी खडा हुआ था और उन्होंने भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गणधर इन्द्रभूति से निस्सकोच भाव से पूछ भी लिया—

चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी।
एककज्जपवन्नाणं विसेसे किन्नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावी कहं विप्पच्चओ न ते?[1]

यह—चातुर्याम धर्म जो महामुनि पार्श्वनाथ ने बताया है और यह पचयाम धर्म—जो भगवान वर्धमान ने कहा है—इसमे यह अन्तर क्यो है? जबकि दोनो ही एक कार्य, एक लक्ष्य—मोक्ष के लिए प्रवृत्तिमान है, दोनो का लक्ष्य एक है तो फिर मार्ग (धर्म) दो क्यो? क्या आपको इसमे कुछ उलझन या सशय जैसा नही होता?

इस ऐतिहासिक प्रश्न के उत्तर मे ज्ञान एव प्रतिभा के अक्षय धनी गौतम स्वामी ने जो उत्तर दिया वह मानव-स्वभाव का एक सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्होंने कहा—

---

१ उत्तरा० २३-२४

पुरिमा उज्जुजडा उ वक्कजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुहे कहे ॥
पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ चरिमाण दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाण तु सुविसोज्झो सुपालओ ॥

प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु (सरल) एव जड (अल्प बुद्धि) होते हैं, और अन्तिम तीर्थंकर के समय के साधु स्वभावत ही वक्र और जड होते है । बीच के तीर्थंकरो के युग मे साधु-श्रमण ऋजु और प्राज्ञ होते हैं, इसलिए धर्म के दो प्रकार बताये गये है ।

प्रथम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प—आचार को यथावत् ग्रहण करना—यथार्थ रूप मे समझ पाना कठिन होता है और अन्तिम तीर्थंकर के मुनियो के लिए कल्प को यथार्थ—सम्यक् रूप मे समझ पाना और उसका पालन करना भी कठिन होता है । मध्यवर्ती तीर्थंकरो के मुनियो द्वारा कल्प को यथावत्-ग्रहण करना और उसका सम्यक् रूप में पालन करना सरल है । यह उनके स्वभाव का ही अन्तर है । युग काल आदि के प्रभाव से मनुष्य स्वभाव मे अन्तर आता है, और जब मनुष्य स्वभाव मे अन्तर आता है तो नियम आदि मे भी, मर्यादा आदि मे भी अन्तर करना पडता है ।

गौतम स्वामी का यह उत्तर-चातुर्याम धर्म एव पचयाम धर्म के भेद का मूल कारण स्पष्ट करता है । मानव स्वभाव के कारण जिस प्रकार नीतियो मे परिवर्तन होता रहा है, सर्वप्रथम 'हकार' नीति से ही मनुष्य पापाचरण से दूर हट जाता था 'हैं' आश्चर्यपूर्वक इतना किसी को कह दिया तो बस, वह इसे बहुत बडा दण्ड समझकर पापाचार से दूर हट जाता था, धीरे-धीरे मनुष्य स्वभाव बदलता गया, हकार से मकार और धिक्कार नीति पर आ गया । फिर तो धिक्कार देने पर भी जब पापाचार से निवृत्त नही होने लगा, तो दण्ड विधान का विकास हुआ और अन्त मे मृत्युदण्ड तक आ गया । अब तो मनुष्य इतना बेशर्म या पाप का आदी हो गया कि मृत्युदण्ड के भय से भी बाज नही आता । तो यह मानव-स्वभाव का परिवर्तन है । यही परिवर्तन हमे धर्म पक्ष मे भी दिखायी देता है । जैसा गौतम स्वामी कह रहे हैं कि प्रथम तीर्थंकर के समय का मनुष्य अल्प बुद्धि वाला तो अवश्य था, पर सरल । मध्य के तीर्थंकरों के युग मे मनुष्य सरल भी था और बुद्धिमान थी । बुद्धिमान को इशारा ही काफी होता है, इसलिए उसके लिए धर्म के नियमोपनियम भी उतने ही सरल एव कम थे, वह अधिकतर कृत्य-अकृत्य का विवेक स्वय की बुद्धि से ही कर लेता था । अन्तिम तीर्थंकर के युग मे मानव स्वभाव मे विचित्र परिवर्तन आ गया, अल्पबुद्धि मनुष्य वक्र-अर्थात् चालाक हो गया, तर्कबाज बन गया, एक बात मे दस बात निकालने वाला, एक गली मे दस गलियारे निकालने वाला बन गया । इस प्रकार उसका स्वभाव वक्र एव जड हो गया ।

ऋजुजड और वक्रजड दो उदाहरण

ऋजु जड एव वक्र जड मनुष्य के स्वभाव की विचित्रता को समझाने के लिए प्राचीन आचार्यों ने दो-तीन उदाहरण दिये हैं।

भगवान ऋषभदेव के समय का एक श्रमण शौच के लिए बाहर गया। वापस आने मे काफी विलम्ब हो गया तो गुरु ने पूछा—वत्स! आज इतना विलम्ब क्यो हो गया?

शिष्य ने कहा—गुरुदेव! मार्ग मे एक नट नृत्य कर रहा था, मैं उसका नाच देखने के लिए रुक गया, इसी कारण कुछ देर हो गयी। गुरुजी ने कहा—देखो, हम श्रमण है, श्रमणो को नट का नृत्य नहीं देखना चाहिए।

शिष्य ने 'तहत्ति' कहकर गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य कर लिया।

कुछ दिन बाद फिर एक बार ऐसा ही प्रसग बना। शिष्य को बाहर जाकर आने मे बहुत अधिक समय लग गया तो गुरुजी ने पूछा—आज इतनी देर कैसे लग गई?

शिष्य ने बडी सरलता से कहा—मार्ग मे एक नर्तकी नाच रही थी। बडा अद्भुत और मनोहारी नृत्य था, उसे देखने के लिए ही कुछ देर रुक गया।

गुरु ने कहा—"तुम्हे उस दिन निषेध किया था, फिर भी तुम गुरु आज्ञा का ध्यान नही रखते!" शिष्य ने कहा—गुरुदेव! आपने तो नट का नृत्य देखने का निषेध किया था, आज नटनी का नृत्य था

शिष्य की मूर्खता भरी सरल बुद्धि पर तरस खाकर गुरु ने कहा—चाहे नट का नृत्य हो या नटनी का, राग का कारण होने से ही तो उसका निषेध किया है। अत भविष्य मे ध्यान रखना, किसी भी प्रकार का नृत्य देखना नहीं!"

विनीत शिष्य ने अपनी भूल स्वीकार कर ली और भविष्य मे सावधान रहने का प्रयत्न करने लगा।

आचार्यों ने इस मनोवृत्ति का विश्लेषण करते हुए बताया है कि मध्यकाल के बाईस तीर्थंकरो के युग मे भी जब ऐसा प्रसग आया, गुरु ने शिष्य को नट का नृत्य देखने का निषेध किया तो उन्होंने स्वय ही अपनी बुद्धि से समझ लिया—नट हो या नटनी, नृत्य देखना वास्तव में राग का कारण है, इसलिए गुरुजी का आशय नृत्य मात्र को देखने का निषेध करने से ही है।

और अन्तिम तीर्थंकर के युग के साधुओ के सामने जब ऐसा प्रसग बना, तो उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे वाली बात होने लगी— शिष्य बोले—आपने पहले ही क्यो नही साफ बता दिया कि नट का नृत्य नही देखना चाहिए और नटनी का भी नहीं देखना चाहिए। जब आपने नट का नृत्य देखने का निषेध किया तो हमने समझ लिया—नटनी का नृत्य देखने का निषेध नही है।"

इस उदाहरण में यह बात झलकती है कि प्रथम तीर्थंकर के युग का मनुष्य भले ही अल्प प्रज्ञा वाला था, पर सरल होता था, अपनी भूल को शीघ्र ही स्वीकार कर लेता था। मध्य युग का मानव बडा सरलाशय और प्रज्ञावान—अर्थात् बुद्धिमान भी होता था और सरल भी, एक शब्द मे ही वह वक्ता का पूरा आशय समझ लेता और उसके अनुसार आचरण भी करता। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के युग मे काल-प्रभाव ऐसा हुआ कि मनुष्य की मनोवृत्ति बडी तर्कशील हो गई। वह कुटिलता की ओर अधिक झुक गया।

एक दूसरा उदाहरण दिया गया है—प्रथम तीर्थंकर के युग का एक श्रमण भिक्षा लेने गया। भिक्षा लेकर वापस आया और गुरु के सामने पात्र खोला तो उसमे एक ही बड़ा था। गुरु ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—ऐसा कौन दाता मिला, जिसने एक ही बडा दिया ?

शिष्य ने कहा—गुरुदेव ! गृहस्थदाता ने तो मुझे बडी भावना के साथ ३२ गरम-गरम बड़े दिये थे। मैंने सोचा—ये सारे बड़े गुरुजी अकेले तो नही खायेंगे, आधे मुझे भी देंगे, तो वहाँ पहुँचने तक बडे ठडे हो जायेंगे, क्यो न मैं अपने हिस्से के कुछ बड़े तो गर्मागर्म खालूं। मैंने वह बडे गर्मागर्म खा लिए, बडे स्वादिष्ट लगे। फिर सोचा १६ बडो मे से भी गुरुजी ८ तो मुझे देंगे ही। इनको भी क्यो ठडे किये जायें। यह सोचकर आठ खा लिये, फिर इसी तरह ४ और फिर २ बड़े खा गया तो अब एक बडा ही बचा। इस प्रकार ३१ बड़े तो मैंने खा लिये।

गुरुजी ने कहा—वत्स ! मुझे विना खिलाए ये बड़े तेरे गले के नीचे कैसे उतर गये ?

सरल स्वभावी शिष्य ने उस एक बड़े को हाथ में उठाकर मुंह मे डालते हुए कहा—देखिए गुरुजी ! यो सब बडे गले के नीचे उतर गये।

शिष्य की सरलतापूर्वक मूर्खता पर गुरुजी की आंखें कुछ छलछला आई। उन्होंने कहा—वत्स ! पहली बात तो मार्ग मे चलते हुए खाना ही नही चाहिए और स्थान पर आकर भी गुरु को दिखाये विना खाना नही—तुम्हारा यह कार्य श्रमणाचार के विरुद्ध है।"

शिष्य ने अपनी भूल स्वीकार कर ली और भविष्य मे ऐसी भूल न करने का वचन दिया।

इसी के साथ वक्र जड—मनोवृत्ति का परिचय देने वाला एक अन्य उदाहरण भी दिया गया है। एक सेठ का पुत्र बहुत वाचाल था। एक दिन पुत्र को शिक्षा देते हुए पिता ने कहा—पुत्र ! बडो के सामने नही बोलना चाहिए।

कुटिल पुत्र ने सोचा—पिताजी की शिक्षा पिताजी को ही देनी चाहिए। एक वार सभी घर वाले बाहर गये थे। घर पर अकेला लडका था। घर के सभी दरवाजे बन्द कर वह एक कमरे मे जाकर बैठ गया। सध्या के समय सब लोग बाहर से आये। दरवाजे बन्द देखकर सेठ ने पुत्र को पुकारा। वह भीतर चुपचाप बैठा रहा। खूब

आवाजें लगाने पर भी वह बोला नहीं। सेठ का हृदय आशका से धड़कने लगा। सोचा—पुत्र को कहीं कुछ हो तो नहीं गया है ? आखिर चिन्तातुर होकर वह दीवार लाघकर घर मे घुसा तो लड़का सेठ को देखकर हँसने लगा। सेठ ने भी उसको भला-चगा हँसता देखकर कहा—मूर्ख ! इतनी आवाजें देने पर भी बोला क्यों नहीं ? तुझे क्या हो गया था ?

लड़का कुटिल हँसी के साथ बोला—आपने ही तो कहा था—बड़ो के सामने बोलना नहीं चाहिए।"

तो यह है वक्र एव जड व्यक्ति की मन स्थिति। मन स्थिति के इस अन्तर के कारण ही गौतम स्वामी ने कहा—

पुरिमा उज्जुजडा उ वक्कजडा य पच्छिमा।

प्रथम तीर्थंकर के ऋजुजड एव अतिम तीर्थंकर के समय के मनुष्य वक्र जड होते हैं।

हाँ, तो मैं बता रहा था कि प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय में पचमहाव्रत धर्म तथा मध्य तीर्थंकरो के समय मे चातुर्याम धर्म होता है। मध्यकालीन युग के मनुष्य सरल प्राज्ञ होते हैं अत वे कचन और कामिनी को एक ही व्रत मे समाविष्ट कर देते है, अर्थात् धन-धान्य आदि परिग्रह की भाँति वे स्त्री को भी परिग्रह मानकर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत को एक ही व्रत मानकर उसका आचरण करते है। इस प्रकार इस व्रत कल्प मे व्रतों की गणना का अन्तर रहता है, यद्यपि नियम का कोई अन्तर नहीं है, किन्तु चातुर्याम तथा पचमहाव्रत—दो प्रकार का कल्प होने से व्रतकल्प मे अन्तर माना गया है।

७ ज्येष्ठकल्प—इस कल्प के तीन अर्थ प्राचीन आचार्यों ने किये हैं—

(१) जैनधर्म गुण प्रधान होने पर भी 'पुरुष-ज्येष्ठ' परम्परा को मान्य करता है। कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी भी आज के दीक्षित श्रमण को वन्दना एव उसका आदर-बहुमान करती है।[1]

ज्येष्ठ कल्प का दूसरा अर्थ है—प्रथम एव अतिम तीर्थंकर के समय मे दीक्षा ग्रहण करते समय पहले सामायिक चारित्र ग्रहण किया जाता है और बाद मे छेदोपस्थापनीय चारित्र। छेदोपस्थापनीय चारित्र के आधार पर ही श्रमणो मे कनिष्ठता एव ज्येष्ठता का क्रम रखा जाता है। आज की भाषा में सामायिक चारित्र को छोटी दीक्षा

---

१ वरिससय दिक्खिआए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमण वदण नमसणेण विणएण सो पुज्जो।

—कल्पलता टीका मे उधृत गाथा

तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र को वडी दीक्षा कहा जाता है।[२] सामायिक चारित्र के वाद जिस क्रम से छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण किया जाता है, उसी क्रम से श्रमणो को छोटा-वडा माना जाता है। मध्यकाल के वाईस तीर्थंकरो के युग मे सिर्फ सामायिक चारित्र ही होता है, अत उनमे ज्येष्ठकल्प नही होता।

ज्येष्ठ कल्प का तीसरा अर्थ यह भी है कि पिता-पुत्र, राजा-मत्री आदि यदि एक साथ दीक्षा ग्रहण करें तो उनमे पद के अनुसार उन्हे ज्येष्ठ रखा जाता है कभी-कभी पुत्र ने दीक्षा ग्रहण कर ली, सामायिक चारित्र ग्रहण कर लिया और उसके बाद पिता के मन मे वैराग्य जागृत हुआ और वह भी दीक्षा लेने को तत्पर हो गया तो उसकी प्रतीक्षा में एक-दो मास से छह मास तक पुत्र को सामायिक चारित्र मे (छोटी दीक्षा) मे ही रखा जा सकता है, पिता को दीक्षा देकर पहले उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र देकर वडा किया जा सकता है।

८ **प्रतिक्रमण**—यह साधना का प्रमुख अग है। आत्मालोचन एव आत्म-शुद्धि का श्रेष्ठतम साधन प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है—"अपने आत्म-स्वभाव में वापस लौटना।"

इस विषय मे जिनदासगणी महत्तर ने बताया है कि प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के समय मे उभयकाल नियमित रूप से प्रतिक्रमण करने का विधान है। साथ ही दोष लगने पर तत्काल प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कड) लेने का भी विधान है, किन्तु बाईस तीर्थंकरो के समय मे दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण द्वारा दोष-विशुद्धि की जाती है, उभयकाल नियमित प्रतिक्रमण का विधान वहाँ नही है।

प्रतिक्रमण आत्म-साधना का महत्वपूर्ण अग और पर्युषण मे विशेष महत्व का विषय होने के कारण इस पर अगले प्रवचन मे हम स्वतन्त्र रूप से भी विचार करेंगे।

९ **मासकल्प**—श्रमणो के लिए '**विहार चरिया इसिण पसत्था**' कहा गया है। विहारचर्या श्रमण के लिए श्रेष्ठ है। वह नदी की तरह रमता रहता है ताकि अनेक ग्राम-नगर उसकी पवित्र चरण धूलि से पावन होते रहे।

विहार की दृष्टि से दो काल वताये गये हैं—वर्षाकाल तथा ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक का है, बाकी आठ महीने का काल ऋतुवद्ध काल कहलाता है। वर्षाकाल मे श्रमण चार मास तक एक स्थान पर निवास करता है, किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त एक मास से अधिक एक स्थान पर नही रुकता। यह प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरो का कल्प है। मध्यकाल के तीर्थंकरो के युग मे मास

---

२ श्री आदीश्वर महावीरयो साधूना लघुत्व वृद्धत्त्व वृहद्दीक्षया गण्यते। द्वाविंशति तीर्थंकर साधुना तु दीक्षाया भवन्त्या सत्यामेव लघुत्व वृद्धत्व गण्यते।

—कल्पद्रुम कलिका, टीका, पृ० २

कल्प जैसा कोई नियम नही है। यदि दोषापत्ति न हो तो वर्षों तक भी एक स्थान पर रह सकते हैं।

मासकल्प के पीछे मुख्य दृष्टि यही है कि श्रमण एक स्थान पर रुक कर रहे तो उसे स्थान-अशन-पान एव स्त्रियादिक की स्नेहासक्ति भी बढ सकती है, दूसरे अनेक स्थानो को श्रमण के विहार का लाभ नहीं मिल पाता। इसीलिए कहा जाता है—'साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय।' हां, कारण-विशेष—वृद्धत्व, रोग आदि कारणो से एकमास से अधिक भी एक स्थान पर रहा जा सकता है।

१० पर्युषणाकल्प—यह दसवां कल्प है। इस सम्बन्ध मे पहले काफी विचार किया जा चुका है। यह कल्प मुख्यत. प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकरों को काल मे ही विहित है, क्योकि उनके लिए ही मासकल्प का विधान है, मासकल्प एव वर्षावास काल के साथ ही पर्युषण का सम्बन्ध है। पर्युषण पर्व अर्थात् भाद्रपद शुक्ला पचमी को ही सवत्सरी पर्व के रूप मे मनाने की परम्परा है। यह आज जैन जगत का सर्वमान्य एव सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक पर्व है।

इन दस कल्पो में छह कल्प अनवस्थित कल्प कहे गये हैं, जैसे—

१ आचेलक्य	४ राजपिण्ड
२ औद्देशिक	५. मासकल्प
३. प्रतिक्रमण	६ पर्युषणाकल्प

अर्थात् ये छह कल्प प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही विहित है।

निम्न चार कल्प अवस्थित अर्थात् स्थिर कल्प है—

१ शय्यातर पिंड
२ चातुर्याम धर्म (व्रतकल्प)
३ पुरुष ज्येष्ठ कल्प
४ कृति कर्म

ये चौवीस ही तीर्थंकरो के समय मे मान्य हैं।[1]



---

१ आवश्यक निर्युक्ति-मलयगिरि वृत्ति, पत्र १२१.—

सेज्जायरपिंडम्मि चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
किइकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा॥

६

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण : एक आवश्यक कृत्य

वन्धुओ,

'पर्युषणा कल्प' के प्रसग पर दशकल्पो पर कल कुछ विचार किया गया था। जैन श्रमणो के लिए जो दस कल्प बताये गये हैं उनमे आठवा कल्प है प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण का आत्म-साधना के लिए अन्यतम महत्व है, पर्युषण का भी इसके साथ गहरा सम्बन्ध है। साधु वर्ग के लिए पर्युषण मे पाँच विशेष कर्तव्य बताये गये हैं—

१ सावत्सरिक प्रतिक्रमण

२ केशलोच

३ यथाशक्ति तपस्या

४ आलोचना (आलोयणा)

५ क्षमापना

ये पाँच कर्तव्य श्रमण को पर्युषण में अवश्य करने होते हैं, श्रावक इनमे से चार की आराधना करता है, क्योकि केशलोच का विधान सिर्फ श्रमण वर्ग के लिए ही है।

१ सावत्सरिक प्रतिक्रमण

जैनशास्त्रो मे साधु और श्रावक को निरन्तर आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया गया है। क्योकि कर्म-मल से युक्त आत्मा ही ससार मे परिभ्रमण करता है, उस कर्म मल को दूर हटाकर आत्मा को निर्मल कषाय मुक्त करना ही हमारी साधना का लक्ष्य है। इसलिए आचार्यों ने कहा है—'कषायमुक्ति. किल मुक्तिरेव'-कषायो से मुक्त हो जाना ही वास्तव मे मुक्ति है, तो आत्म-विशुद्धि के लिए श्रावक और श्रमण दोनो को पल-पल जागरूक रहना होता है। उनके लिए छह प्रकार के आवश्यक कृत्यो का विधान है, जिसे हम षडावश्यक कहते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

१ **सामायिक**—समभाव की साधना

२. **चतुर्विशतिस्तव**—तीर्थंकर देव की स्तुति

३. **वन्दन**—सद्गुरुओ को नमस्कार

४ **प्रतिक्रमण**—दोषो की आलोचना

५ कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग
६ प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग[1]

ये छह आवश्यक कृत्य प्रात काल एव सायकाल प्रतिदिन किये जाते हैं, यह एक प्रकार का आत्म-स्नान है, जिससे दोपो की शुद्धि होकर आत्मा उजली हो जाती है। इनके क्रम पर विचार करने से ही पता चलता है कि सर्वप्रथम आत्मा समभाव (वीत-राग भावना) मे लीन होता है, फिर समभाव स्थित आत्मा देव-गुरु आदि की स्तुति एव वन्दना करने मे तन्मय हो जाता है, उसके समक्ष एक ओर महापुरुपो का उदात्त और निर्मल जीवन चरित्र रहता है, उस आदर्श को समक्ष रखकर वह शान्त चित्त से आत्मनिरीक्षण करता है, अपने दोपो पर विचार करता है, भूलो का प्रायश्चित्त कर मन को हल्का और आत्मा को निर्मल बना लेता है, उसके बाद शरीर के ममत्व भाव से हटकर ध्यान मे स्थिर हो जाता है और फिर यथाशक्ति आहार आदि का प्रत्याख्यान कर तप साधना की अग्नि से पुराने कर्मों को भस्मसात् करने का प्रयत्न करता है।

इन छह आवश्यक कृत्यो मे प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है। मैले वस्त्र को धोये बिना जैसे वह शुद्ध नही होता वैसे ही प्रतिक्रमण के बिना आत्मा शुद्ध नही हो सकती। इसलिए प्रतिक्रमण के सम्बन्ध मे थोडा-सा विचार करना है।

वैसे तो प्रतिक्रमण छह आवश्यको मे चौथा आवश्यक है, किन्तु यह शब्द इतना जन-प्रचलित हो गया है कि इसी शब्द से पडावश्यको का बोध हो जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

स्वस्थानाद् यत् परस्थान प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमण भूय प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

/आत्मा-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अपने स्थान(केन्द्र) से हटकर प्रमाद के वशीभूत होकर पर-स्थान, राग-द्वेष, मोह, विपय-कषाय आदि स्थान (पर-भाव) मे चला जाता है। उसका यह परभाव मे जाना अतिक्रमण कहलाता है। यह परभाव-गमन आत्मा के पतन का कारण है। अगर उसे परभाव से हटाकर स्वभाव मे नही लाया गया तो उसका उत्थान या ऊर्ध्वगमन नही हो सकता। आत्मा को ऊपर उठाने के लिए, उसे विशुद्ध और पवित्र बनाने के लिए उसे लौटाकर स्व-स्थान मे लाना आवश्यक है। यह पर-स्थान से लौटाकर वापस स्व-स्थान मे लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का सीधा अर्थ है वापस लौटना। अतिक्रमण का अर्थ है सीमा का उल्लघन, और वापस अपनी सीमा मे आना प्रतिक्रमण है।/

कल्पना करो—एक मनुष्य चलता-चलता ठोकर खाकर कही गिर पडा। पैर की हड्डी मे चोट लगी, वह अपने स्थान से हटकर दूसरी हड्डी पर चढ गई, अपनी जगह से खिसक गई तो, उसे हम फ्रेक्चर कहते हैं। यह फ्रेक्चर शरीर के किसी भी भाग में हो, कितना कष्टदायक होता है, कितनी असह्य पीडा होती। डाक्टर लोग, हड्डी के

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र

विशेषज्ञ एक्सरे आदि से पता लगाते हैं कि वास्तव मे कौनसी हड्डी मे चोट है, कौनसी हड्डी कहां से खिसक कर किधर चली गई है और उसके बाद डाक्टर क्या करता है ? उस हड्डी को वापस अपनी जगह पर स्थिर करने के लिए पक्का पाटा बांधता है या आपरेशन करके उसे वापस अपने स्थान पर फिट करता है। तो सोचिए, शरीर की हड्डी भी जब अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाती है, तो वह असह्य वेदना का कारण हो जाती है और आप हजारो रुपये खर्च कर वापस उसको अपनी जगह पर स्थिर कराने का प्रयत्न करते हैं।

तो, यह हमारी आत्मा जब अपने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाती है तो क्या आत्मा को कष्ट नही होगा ?

स्व-स्थान क्या है और पर-स्थान क्या है ? इसको सक्षेप मे आप यो समझ लें—

स्व-स्थान	परस्थान
क्षमा	क्रोध
विनय	अहकार
सरलता	माया
सतोष	लोभ
समभाव	राग-द्वेष रूप विषय भाव
दान-उदारता	कृपणता
आत्मविश्वास	सशय, शका-काक्षा
दयालुता	क्रूरता
सत्य	झूठ
ब्रह्मचर्य	विषय-विकार

इसी प्रकार जितने भी सद्‌गुण हैं, वे सब स्व-स्थान हैं, वे आत्मा के निजगुण हैं, इसलिए वे अपने है, दुर्गुण पर-स्थान है। प्रतिक्रमण और कुछ नही करता—सिर्फ पर-स्थान मे गई हुई आत्मा को वापस स्व-स्थान मे लाने का प्रयत्न है। अर्थात् आत्म-रमण की एक साधना है। कई प्रकार से आत्मा को पर-भाव से स्व-भाव मे लाया जाता है। इसलिए प्रतिक्रमण के आठ स्वरूप बताये गये हैं।

आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने प्रतिक्रमण के आठ भेद किये हैं। उन पर विचार करने से प्रतिक्रमण की सर्वांग विधि हमारे ध्यान मे आ जायेगी।

१ **प्रतिक्रमण**—उन्ही पैरो से वापस लौटना। जैसे अगर असत्य भाव मे गये हो तो वापस सत्य की ओर मुडना, क्रोध मे गये हो तो वापस क्षमा की ओर मुडना।

२ **प्रतिचरणा**—सयम के सभी अगो मे भली प्रकार चलना और सावधानी पूर्वक निर्दोष सयम पालना।

३ **परिहरणा**—सयम का विघात करने वाले दोषो को टालते रहना।

४ वारणा—जिन कार्यों का शास्त्रो मे निषेध किया है उनको नही करना।

५ निवृत्ति—यदि प्रमादवश किसी दोष सेवन की ओर बढा हो तो तुरन्त उससे निवृत्त होना।

६ निन्दा—आत्म-साक्षि से अपनी अशुभ प्रवृत्ति की निन्दा करना।

७ गर्हा—गुरुजनो की साक्षि से अपने कृत अशुभ की निन्दा करना।

८ शुद्धि—कृत-पाप का प्रक्षालन करने के लिए तपस्या आदि करना, जिससे आत्म-शुद्धि हो।

आत्मा को स्वभाव मे स्थिर करना, तथा पाप प्रवृत्ति से वापस मोडना—यही प्रतिक्रमण का मुख्य लक्ष्य है और ये आठ उसके मार्ग हैं, जिनके द्वारा पूर्णरूप से आत्म-शुद्धि की जा सकती है।

पांच भेद

प्रतिक्रमण के सामान्यत पांच प्रकार बताये गये हैं।

१ दैवसिक—दिवस सम्बन्धी दोषो की आलोचना करने के लिए सूर्यास्त के बाद एक मुहुर्त तक काल मे प्रतिक्रमण करना, दैवसिक प्रतिक्रमण है।

२ रात्रिक—रात्रि मे जाने-अजाने हुए दोषो की प्रात काल आलोचना करना, रात्रिक प्रतिक्रमण है।

३ पाक्षिक प्रतिक्रमण—पन्द्रह दिन के बाद चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा जिस दिन आती हो उस दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करना।

४ चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—चातुर्मासिक पूर्णिमा तीन हैं—आषाढी पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा एव फाल्गुन पूर्णिमा, इनकी पक्खी को प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

५ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण—वर्ष (सवत्सर) की समाप्ति के दिन वर्ष भर मे कृत दोषो की आलोचना करना सावत्सरिक प्रतिक्रमण है।

हमे यहां सावत्सरिक प्रतिक्रमण के विषय मे थोडा सा विचार करना है।

पिछले प्रकरण मे बताया जा चुका है कि प्रथम एव अतिम तीर्थंकरो का कल्प सप्रतिक्रमण कल्प है। अर्थात् प्रात -साय दोनो समय प्रतिक्रमण करने का विधान है, जबकि मध्यवर्ती २२ तीर्थंकरो के युग मे ऐसा नही है। उनके समय मे तो दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता है। वर्तमान मे अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन चल रहा है और इसमे प्रात.-साय नित्य प्रतिक्रमण का विधान है।

यहां प्रश्न पैदा हो सकता है कि जब प्रात साय दोनो समय प्रतिक्रमण का विधान है तो फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक एव सावत्सरिक प्रतिक्रमण का विशेष विधान क्यो किया गया?

इसका एक मुख्य कारण है—आगम मे बताया गया है कि साधु को प्रमादवश यदि कोई दोष लग जाय, परस्पर कोई कलह हो जाय, तो तुरन्त उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए और खमत खामणा करके कलह की शाति कर देनी चाहिए। किंतु मनुष्य स्वभाव विचित्र है, कभी-कभी भूल करके तुरन्त उसपर पश्चात्ताप नही करता, किन्तु धीरे-धीरे जब मन कुछ विरक्त और शात होता है तब उसे अपनी भूल का भान होता है। अहकार क्रोध आदि का उफान शात होने मे कभी-कभी समय लग जाता है, और कुछ समय के बाद मनुष्य अपने अपकृत्य पर पश्चात्ताप करने लगता है। कई बार देखा जाता है कि भूल करते समय तो मनुष्य अहकार मे गदराया रहता है अथवा क्रोध से भरा रहता है, तब उसे भूल-भूल ही प्रतीत नही होती, किन्तु धीरे-धीरे जैसे वह नशा उतरता है, वैसे वह अपनी भूल को महसूस करने लगता है। अपने प्रमादाचरण पर उसे स्वय ही ग्लानि और पश्चात्ताप होने लगता है। इसमे समय का व्यवधान अधिकतर मनुष्य की सरलता पर निर्भर करता है। कोई मनुष्य सुबह की भूल शाम को ही समझ लेता है, कोई दस-पन्द्रह दिन बाद मे उस पर विचार करता है। कोई दो-चार महीने भी निकाल देता है और कोई-कोई वर्ष भर की अपनी भूल पर ध्यान नही देता। मानव स्वभाव की इस विचित्रता के कारण ही मानसज्ञानी भगवान ने कहा है 'यदि सुबह की भूल शाम तक ध्यान मे न आये तो पाक्षिक प्रतिक्रमण तक तो उसकी आलोचना कर लेनी चाहिए। पक्खी के दिन पन्द्रह दिनो में हुयी अपनी समस्त भूलो का लेखा-जोखा मिलाकर उनकी आलोचना कर आत्मा को शुद्ध और उपशात कर लेना चाहिए। यदि किसी का हृदय इतना कठोर है कि पन्द्रह दिन मे भी हृदय नम्र एव सरल नही हुआ तो उस साधक के लिए चार मास का समय दिया गया है कि वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के समय तो अपना पुराना खाता बराबर कर ही लें।

कभी-कभी मनुष्य अधिक कठोर हो जाता है, चार मास के काल मे भी उसका हृदय द्रवित न हो, आत्म-निरीक्षण करने की भावना न जगे तो उसे भी एक अवसर और दिया जाता है कि वह सवत्सरी के दिन तो पुराने शल्य काटे निकाल लें, दोषो की शुद्धि करलें, कलह की उपशाति करलें और इस परम पवित्र दिन पर तो वह सर्वथा बालक की भांति सरल और शुद्ध हृदय होकर सावत्सरिक प्रतिक्रमण करलें, चौरासी लाख जीव योनि के साथ सरल हृदय से खमत खामणा करलें। कोई महाव्रती, अणुव्रती अथवा सम्यक्त्वी श्रावक इस दिन भी अपने हृदय को सरल नही करता है तो वह न महाव्रती रह सकता है, न अणुव्रती और न सम्यक्त्वी ही। वह क्रोध और अहकार की उग्रता के कारण अपने सम्यक्त्व रत्न से हाथ धो बैठता है।

दशाश्रुतस्कध की २३वी समाचारी मे बताया है कि जो श्रमण पर्युषण मे भी पूर्व वर्ष मे हुए कलह को उपशात नही करता है, अपने अधिकरण— कलह की विशुद्धि नहीं करता है तो उसको श्रमण सघ से निष्कासित कर देना कल्पता है—अर्थात् ऐसा उग्र अहकारी और क्रोधी व्यक्ति श्रमणत्व का अधिकारी नही रह सकता, श्रमणत्व ही

क्या, सावत्सरिक क्षमापना न किया जाय तो दुर्लभ सम्यक्त्व भी रह पाना असभव है।

कपाय की उग्रता का परिमाण बारह मास तक का माना गया है कि इस काल तक मे कपायो को किसी भी प्रकार उपशात कर लेना चाहिए। बारह मास की सीमा से उपरात रहने वाला कपाय—अनन्तानुवधी कपाय की गणना मे आ जाता है, और अनन्तानुवधी कपाय वाला सम्यक्त्वी नही रह सकता।

इसलिए सावत्सरिक प्रतिक्रमण-प्रत्येक सम्यक्त्वी को एक चुनौती है कि तुम आज के दिन अपने पुराने खाते बराबर कर लो, कपायो को उपशात कर लो, हृदय को नम्र और सरल बनाकर उपशमभाव की शीतल धारा मे स्नान कर लो, अन्यथा तुम सम्यक्त्वी कहलाने के अधिकारी भी नही रहोगे।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कब ?

एक प्रश्न यहाँ खडा होता है कि सवत्सरी का क्या अर्थ है ? वह कब मनाई जाती है और क्यो ?

सामान्यत सवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष के अन्तिम दिन किया जाने वाला कृत्य सावत्सरिक कहलाता है। वैसे जैन परम्परा के अनुसार आपाढी पूर्णिमा को सवत्सर समाप्त होता है, और श्रावणी प्रतिपदा (श्रावण वदी १) को नया सवत्सर प्रारम्भ होता है। इसलिए कुछ व्यक्ति यह तर्क उठाते हैं कि सावत्सरिक प्रतिक्रमण आपाढी पूर्णिमा को ही करना चाहिए। यही वर्ष का अन्तिम दिन है। भाद्रपद शुक्ला पचमी को जैन ज्योतिप की दृष्टि से तथा अन्य किसी भी दृष्टि से वर्ष का न अन्तिम दिन है और न प्रारम्भिक दिन।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि आपाढी पूर्णिमा सवत्सर का अन्तिम दिन माना गया है किन्तु शास्त्र में जो पर्युपण का विधान है वह आषाढी पूर्णिमा से पचास दिन के भीतर किसी पर्व दिवस मे मनाने का है; निर्दोष स्थान आदि की प्राप्ति होने पर पर्युषण मनालें, अगर किसी भी दशा मे स्थान आदि की प्राप्ति न हो तो भी आपाढी पूनम से एक मास और बीस दिन बीत जाने पर तो अवश्य ही मनाना होता है। इस दृष्टि से देखें तो आषाढी पूनम से पचासवा दिन एक निश्चित दिन है, इस दिन पर्युषण निश्चित रूप से करना ही होता है, इस दिन का उल्लघन करने पर प्रायश्चित्त आता है, अर्थात् अन्य सभी विकल्प के दिनो को पार कर लेने के बाद पचासवा दिन निर्विकल्पक दिन है, अत इस दिन का सबसे अधिक महत्व है। यह सीमा का वह अन्तिम पत्थर है जिसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। इसलिए इस दिन का महत्व अपने आप सबसे अधिक सिद्ध हो जाता है, अत आचार्यों ने इसी दिन को सावत्सरिक प्रतिक्रमण का दिन स्वीकार कर दूरदर्शिता का परिचय दिया ही है, साथ ही समस्त श्रमण सघ को एकसूत्र मे बाधे रखने का भी एक सुन्दर मार्ग दिखाया है। बीच के दिन तो अपनी-अपनी सुविधा के दिन हो सकते हैं जिस दिन जहाँ पर जिसको स्थान आदि की सुविधा मिले वह उसी पर्व तिथि (पचमी-

दशमी-पूर्णिमा) को पर्युषण कर ले, इससे सघ मे बहुरूपता आ जाती है, विभिन्नता आती है, फिर—मु डे-मु डे मतिर्भिन्ना वाली स्थिति आ सकती है, इसलिए भाद्रपद शुक्ला पचमी अर्थात् आषाढी पूनम से पचासवें दिन पर्युषण करने—अर्थात् सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने का निश्चित विधान है, जो सघ की एकता और श्रमण सघ की अनुशासन-बद्धता के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संवत्सरी का सांस्कृतिक महत्व

इसी के साथ भाद्रपद शुक्ला पचमी का सांस्कृतिक महत्व भी बहुत बडा है। अहिंसा की प्रतिष्ठा का यह पहला दिन है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार[1] उत्सर्पिणी काल का प्रथम आरा दुषम-दुषमा आरा है। इस आरे मे मनुष्य स्वभावत अत्यन्त क्रूर और क्षुद्र स्वभाव के होते है। वे वैताढ्य पर्वत मे गगा एव सिन्धु नदियो के पूर्व पश्चिम तट पर ७२ बिलो मे रहते हैं। दिन मे भयकर धूप तपती है। सूर्य से जैसे अगारे बरसते हैं। कोई भी मनुष्य सूर्य की धूप मे बिलो से बाहर निकलने का साहस नही कर पाता। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय जब धरती की उष्णता कम होती है उस समय वे अपने बिलो से बाहर निकलकर नदियो एव क्षुद्र जलाशयो से मच्छ-कच्छ आदि पकडकर रेत मे गाड देते हैं। शाम के गड़े हुए मच्छ आदि को सुबह निकालकर खाते हैं सुबह के शाम को। वे व्रत, नियम, त्याग, धर्म आदि से हीन सक्लिष्ट परिणाम वाले मांसाहारी होते हैं।

यह पहला आरा २१ हजार वर्ष का होता है। इसके बाद जब दुषमा नाम का दूसरा आरा प्रारम्भ होता है तो धरती के वर्ण-गध-रस आदि मे कुछ परिवर्तन प्रारम्भ होता है।

सर्वप्रथम पुष्कर संवर्तक नामक मेघ की सात दिन तक लगातार वृष्टि होती है। इसके बाद क्षीर मेघ की सात दिन तक वृष्टि होती है। फिर घृतमेघ, अमृतमेघ और फिर रसमेघ की वृष्टि होती है। इस वृष्टि से पृथ्वी पर वनस्पति अकुरित होती है, पुष्प-फल आदि की वृद्धि होती है। दूसरे और चौथे मेघ के बाद मे सात-सात दिन का उघाड होता है, इस प्रकार ५ मेघ और १४ दिन का उघाड यो कुल ४९ दिन के बाद पृथ्वी वनस्पतियो से हरी-भरी और रमणीय हो जाती है। उष्णता सब शात हो जाती है, शीतलता मधुरता और सरसता से वातावरण अत्यन्त मन भावना हो जाता है। बिलो मे रहने वाले मनुष्य जब बिल से निकलकर बाहर आते हैं तो यह अद्भुत सरस सुन्दर दृश्य देखकर हर्ष मे झूम उठते हैं। पृथ्वी पर फल-फूल उगे देखकर वे उन्हें खाने ललचाते है और सब मिलकर फिर यह निश्चय करते हैं, कि अब हम[2]

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सूत्र ३७-४०

२ देवाणुप्पिया! अम्हं केई अज्जप्पभिई असुभ कुणिम आहार आहरिस्सति सेण अणेगर्हि छायाहिं वज्जणिज्जे ति। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पृ० ११८

मासाहार नही करेंगे, वनस्पति फल फूल आदि खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करेंगे। यहाँ तक कि मासाहार करने वाले प्राणी की छाया मे भी नही बैठेंगे।

इस प्रकार आषाढी पूनम से ४६ दिन पूर्ण होने पर पचासवें दिन इस धरती के मांसाहारी प्राणियो के हृदय मे दया एव करुणा के सस्कार जाग्रत होते है, उनका हृदय वदलता है और वे सामूहिक रूप से प्रतिज्ञावद्ध होकर शाकाहारी वनते है, अहिंसा का अमृत-स्पर्श प्राप्त कर जीवन को धन्य वनाने की दिशा मे पहला कदम वढाते हैं। मांसाहारी क्रूर मानव का यह प्रथम चरण, अहिंसा के मगल पथ पर वढता है—भाद्रपद शुक्ला पचमी को यह मानव जाति का, इस कालचक्र का शाश्वत क्रम है, प्रत्येक युग की आदि (उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ) मे मनुष्य इसी प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं।

जैन आगमो के उक्त वर्णन के अनुसार अव आप कल्पना कर सकते हैं कि भाद्रपद शुक्ला पचमी का अहिंसा, दया एव करुणा की दृष्टि से कितना वडा महत्त्व है। मानव सस्कृतिका यह प्रथम चरणन्यास इसी दिन होता है। अत इस सास्कृतिक एव शाश्वत गौरव को ध्यान मे रखकर भी हम यह कह सकते हैं कि पर्युषण की आराधना, सावत्सरिक प्रतिक्रमण एव क्षमा तथा तपश्चरण की दृष्टि से आषाढ़ी पूर्णिमा के वाद का पचासवाँ दिन अत्यन्त महत्त्व का, ऐतिहासिक और धार्मिक गौरव का दिन है। इसी हेतु से भाद्रपद शुक्ला पचमी को जैन परम्परा मे इतना महत्त्व मिला है। सवत्सरी के पीछे यही अहिंसा की महान प्रतिष्ठा का इतिहास छिपा है। और इसी कारण सावत्सरिक प्रतिक्रमण आषाढी पूनम, अथवा वीच के किसी दिन न करके भाद्रपद शुक्ला पचमी अर्थात् आषाढी पूनम से पचासवें दिन करने का विधान है। इसके पीछे आगम एव परम्परा के अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान है, जिनकी चर्चा हम यहाँ कर चुके हैं।



७

पर्युषण में करणीय कृत्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

पिछले दिनो 'पर्युषण' के विभिन्न पहलुओ पर विचार किया गया। उस चर्चा से ऐसा सिद्ध होता है कि यह एक महान आध्यात्मिक पर्व है। 'पर्युषण' शब्द से अनेक अर्थ और भाव व्यक्त होते हैं जो मैंने आपको बताये। शब्द शास्त्र का नियम है कि एक शब्द–व्युत्पत्ति भेद से, व्याख्या भेद से अनेक अर्थ का वाचक बन जाता है। पर्युषण शब्द के विषय मे भी ऐसा ही हुआ है। इसके विभिन्न शब्द विभिन्न भावो के वाचक हो गये हैं। जैसे—पर्युषण–परिवसन एक स्थान पर स्थिर रहना। इससे पर्युषण का अर्थ वर्षावास करना या वर्षाकाल मे एक स्थान पर रहना सिद्ध होता है।

अब पर्युषण–का दूसरा अर्थ करें–पर्युपशमन। परि–उपशमन अर्थात् सब प्रकार से शान्ति करना। यह शब्द कषाय आदि की उपशान्ति का द्योतक है। इसी तरह एक अर्थ है परि-वसन, निकट रहना। अर्थात् आत्म-भाव के निकट रहना अथवा आत्मा में रमण करना।

वर्षावास का अर्थ–पर्युषण का सिर्फ कालवाची अर्थ है, जबकि कषाय उपशांति और आत्म-रमण यह उसके भाववाची अर्थ हैं। हमे शब्दो के बाह्य कलेवर को नही पकडकर उसकी आत्मा को पकडना है। शब्द के भीतर छिपे हुए गहन भाव को ग्रहण करना है। तभी हम पर्युषण की सच्ची व्याख्या समझ सकेंगे।

एक दिन या आठ दिन ?

एक मान्यता है कि प्राचीन समय मे काल की दृष्टि से पर्युषण सिर्फ एक दिन का ही होता था। आषाढ़ी पूनम के पचासवें दिन पर्युषण मनाया जाता था। किन्तु इसकी मान्यता के अनुसार—प्राचीन ग्रन्थो एव आगमो मे ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि पर्युषण एक अठाई महोत्सव के रूप मे भी मनाया जाता था। तीन चातुर्मासिक पूनम और एक पर्युषण इन चार पर्वों पर देवतागण नन्दीश्वर द्वीप मे जाकर अष्टान्हिक महोत्सव अर्थात् आठ दिन तक उत्सव मनाया करते हैं। [1]

---

१ जीवाभिगम सूत्र—नदीश्वर द्वीप वर्णन,

इस प्राचीन उल्लेख से यह बात जानी जाती है कि अष्टाह्निक महोत्सव की परम्परा बहुत ही प्राचीन है, एक मुख्य दिन के पहले सात दिन और भी इसी प्रकार का उत्सव, आनन्द मनाकर उस मुख्य दिन को एक विशिष्ट पर्व का रूप दिया जाता था। क्योंकि एक दिन का समय बहुत कम होता है, मनुष्य उत्सव प्रिय है, वह एक दिन के सहारे अपने उल्लास को और अधिक विस्तार देकर उसे व्यापक बनाने मे प्रसन्नता का अनुभव करता है। और विविध प्रकार के नृत्य-गायन आदि का आयोजन कर उस त्यौहार को रगारग बना देता है। लौकिक त्यौहारो की भाँति आध्यात्मिक पर्वों को भी वह एक दिन की जगह आठ दिन तक आध्यात्मिक कृत्य धर्म-साधना आदि के रूप मे मनाने लगा हो इसमे कोई आश्चर्य नही। उसकी उत्सव प्रिय वृत्ति आध्यात्मिक क्षेत्र मे कुठित कैसे हो सकती है ? इस कारण यह प्राचीन उल्लेख प्रामाणिक ही लगता है कि वह पर्युषण को भी अष्टाह्निक महोत्सव के रूप मे मनाता रहा हो। एक दिन के पर्युषण पर्व को विभिन्न तप-ध्यान-स्वाध्याय आदि के आयोजनो द्वारा वह आठ दिन तक आत्म-रमण के कृत्य मे लग गया हो, यह सहज सम्भव है।

दूसरी बात, पर्युषण मे कल्पसूत्र (कल्पदशा-दशाश्रुतस्कध की आठवीं दशा) पढने का भी उल्लेख आता है। उसमे साधु की समाचारी-आचार आदि का विधि-विधान है, वह पढने से श्रमण को अपने सम्पूर्ण आचार-नियमो के ज्ञान का पुनरावर्तन हो जाता है और वह विशेष सजगता तथा सावधनीपूर्वक आचरण करने लगता है। वह कल्पसूत्र भी एक दिन मे पढा जाये—यह कम सम्भव है। क्योकि इतना विस्तृत विषय एक ही दिन मे कोई कैसे पढेगा। अत हो सकता है स्वाध्याय की भावना को प्रोत्साहन देने के लिए पर्युषण से सात दिन पूर्व ही यह क्रम प्रारम्भ कर दिया जाता हो, जिसमे श्रमण वर्ग अपने आचार कल्प का अध्ययन खूब गम्भीरतापूर्वक करले, और साथ ही अपने आराध्य देवो एव महापुरुषो का पवित्र जीवन-चरित्र भी पढे और उससे तप, ध्यान एव आत्म-जागरण की सबल प्रेरणा प्राप्त करे। इस दृष्टि से भी पर्युषण आठ दिन मनाये जाने की उपयुक्तता लगती है।

वैसे आठ की सख्या जैन साहित्य मे मांगलिक मानी गई है। प्राचीन काल मे आठ दिन के उत्सव होते थे तथा किसी भी शुभ कार्य में आठ का योग होना अच्छा मानते थे। मगल आठ माने गये हैं। सिद्ध भगवान के भी आठ गुण बताये है। साधु की प्रवचन माता आठ है। सयम के भी आठ भेद बताये गये हैं। योग के आठ अग है। आत्मा के रुचक-प्रदेश भी आठ हैं। और कर्म भी आठ है। कहावत है—'आठ के ठाठ' इस प्रकार आठ की गणना बडी महत्त्वपूर्ण रही है।

पर्युषण में आठ प्रवचन माता की आराधना के लिए तथा आठ कर्मों को क्षीण करने के लिए, एक-एक दिन मान लिया गया हो, तो क्या आश्चर्य है ? एक दिन ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करने के लिए ज्ञान की आराधना, ज्ञानी का बहुमान आदि करे दूसरे दिन दर्शनावरण कर्म को क्षीण करने हेतु, दर्शन विशुद्धि के उपाय करें। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हेतु—निर्वेद, वीतरागता और उदासीन वृत्ति का अभ्यास

करे, अन्तराय कर्म को उपशात करने के लिए दान देवे, तपस्या करके, सयम मे पराक्रम करे। इस प्रकार प्रत्येक दिन एक विशेष प्रकार का आचरण करके तत्सम्बन्धी कर्म-दलिको को उपशात करें, क्षीण करें–यह पर्युषण के आठ दिन का अष्टान्हिक कार्यक्रम हो सकता है।

मतलब यह है कि पर्युषण काल की दृष्टि से भले ही एक दिन का मान लिया जाय, फिर भी दीर्घदृष्टि आचार्यों ने इन दिनो मे आत्म-जागरण करने के लिए पर्युषण को अष्टान्हिक पर्व का रूप दिया हो और आठ दिन सतत पर्युषण पर्व की आराधना का उपदेश किया यह विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आठ दिन के कारणीय कृत्य : १ केश लोच

जैसा पहले बताया गया है—पर्युषण पर्व के आठ दिनो मे पाँच करणीय कृत्यों का विधान है—सावत्सरिक प्रतिक्रमण, केशलोच, यथाशक्ति तपश्चरण, आलोचना और क्षमापना।

केशलोच करने का कारण यह है कि वर्षाकाल मे वर्षा अधिक होने से पानी सिर मे गिरता रहता है, केश गीले रहते हैं उससे अप्काय की विराधना होती है और सिर गीला रहने से जू-लीख आदि की उत्पत्ति भी हो सकती है, दाद-खाज-खुजली आदि भी हो सकती है, इन सभी सभावित दोषो से बचने के लिए यह कहा गया है कि न रहेगा बांस न बजेगी बाँसुरी, जब सिर मे केश ही न रहेगे, तो ये दोष उत्पन्न ही नहीं होंगे।

केशलोच एक अग्निपरीक्षा भी है। साधु कितना कष्ट-सहिष्णु है, कितना धैर्यवान है और शरीर के कष्ट मे भी वह कितना आत्मस्थ रह सकता है इसकी कडी कसौटी है—लोच। इसीलिए राजकुमार मृगापुत्र जब दीक्षित होता है तो उसकी माता कहती है—केसलोओ य दारुणो—केशलोच बडा ही दारुण कष्ट है, बडी भयकर पीडा है। एक-एक बाल जब खीचा जाता है, तो जैसे बिजली-सी चमक जाती है। इस कष्ट को सहन करना सचमुच बडी धीरता और सहिष्णुता का काम है। यह केशलोच पर्युषण पर किया जाता है अर्थात् सावत्सरिक प्रतिक्रमण से पूर्व गो-लोम (गाय के रोम) प्रमाण बाल से बड़े बाल नही रखे जा सकते। शास्त्र मे कहा है—

वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ निग्गथाण व निग्गथीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसं त रयणि उवाइणा वित्तए।[1]

—वर्षावास मे रहे हुए निर्ग्रन्थ-निग्रन्थनिया पर्युषणा की अन्तिम रात्रि से पूर्व ही केशलुचन अवश्य कर लेवें। क्योकि पर्युषणा के बाद (मस्तक मूँछ, और दाढ़ी पर) गाय के रोम जितने केश भी रखना नहीं कल्पता है।

---

१ आयारदशा (मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' सम्पादित) सूत्र ७०, पृष्ठ १२८

तो, यह केशलोच पर्युषण का आवश्यक कृत्य माना गया है, हाँ इसका विधान सिर्फ श्रमण वर्ग के लिए ही है।

२ सावत्सरिक प्रतिक्रमण

सावत्सरिक प्रतिक्रमण के विषय मे पहले विचार किया ही जा चुका है। वह तो वर्ष भर का आत्म-स्नान है। श्रमण हो या श्रावक, शुद्धि प्रत्येक के लिए आवश्यक है। इसलिए सभी को सवत्सरी का प्रतिक्रमण करके वर्ष भर मे हुए प्रमाद, अतिचार अनाचार आदि की सरलतापूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

मिच्छामि दुक्कड सच्चे मन से हो

प्रतिक्रमण मे वार-वार अपने प्रमाद-आचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' का उच्चारण कर पश्चात्ताप किया जाता है। साधक सच्चे दिल से कहता है—मैंने प्रमाद वश जो आचरण कर लिया वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

कोई पूछ सकता है कि क्या ऐसा कहने से उसका पाप धुल जाता है? पाप करके फिर मुँह से कह दिया—मेरा पाप मिथ्या हो तो पाप धुल जाय तब तो पाप-प्रक्षालन का यह वहुत ही सरल तरीका हो गया! इससे तो कोई भी अपने पाप धो सकता है?

इसके उत्तर मे समाधान है कि—पाप करने के अनेक कारणो को दो भागो मे बाँटा गया है वाह्य कारण और आन्तरिक कारण। वाह्यकारण परिस्थिति है, गरीवी, बीमारी, मजबूरी आदि। आन्तरिक कारण उसकी अज्ञान, भय, लोभ एव प्रमाद की वृत्तियाँ है। मूलत. आन्तरिक वृत्ति दूषित होने पर ही मनुष्य पाप करता है। अगर भावना निर्दोष और शुद्ध रही तो पाप प्रवृत्ति नहीं होती। जब मनुष्य भय, लोभ, अज्ञान आदि के वश होकर पाप कर लेता है, किन्तु किसी कारण से, गुरु के उपदेश से या स्वय की विवेक जागरणा से उसे यह भान होता है कि हाय! मैंने यह पाप कर डाला तो सहसा उसके हृदय मे पश्चात्ताप की लहरें उठती हैं और वह हृदय से पुकार उठता है—मैंने जो भूल की, पाप किया, वह मेरा मिथ्या हो, मैं उसकी निन्दा करता हूँ, उसके प्रति घृणा प्रकट करता हूँ और भविष्य मे पुन ऐसा कृत्य नही करूँगा।" इस पवित्र भावना से, आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की भावना से उसके पूर्वकृत पाप की आसक्ति कम हो जाती है, आसक्ति से ही कर्म बध होता है, पापासक्ति कम होते ही कर्म वन्धन भी ढीला हो जाता है और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा हो जाती है, शास्त्र की भाषा मे जिसे हम निर्जरा कहते हैं वह पाप का प्रक्षालन है, पाप-विशुद्धि है। 'मिच्छामि दुक्कड' मे यह पश्चात्ताप की भावना है, पाप के प्रति निन्दा, गर्हा का भाव है और भविष्य मे पुन पाप न करने का कठोर सकल्प है। 'मिच्छामि दुक्कड' वोलते समय हमारी आत्मा मे यह प्रकम्पन होना ही चाहिए, भावना मे मृदुता और पश्चात्ताप की तरगें तरगित होनी ही चाहिए अगर यह भावना जागृत नही होती है तो केवल शाब्दिक 'मिच्छामि दुक्कड' से कोई आत्म-शुद्धि होने

वाली नही है। शाब्दिक 'मिच्छामि दुक्कड' को इसीलिए तो हमारे यहाँ कुम्हार वाला मिच्छामि दुक्कड कहा गया है। टीका ग्रन्थ मे एक उदाहरण आता है।

एक आचार्य अपने शिष्यो के साथ किसी नगर मे पधारे। नगर के बाहर उद्यान मे आचार्य श्री ठहरे। उनके सघ मे एक नव दीक्षित बालक मुनि भी था। वह कुछ चचल प्रकृतिका था। उद्यान के एक ओर कोई कुम्हार अपने घड़े आदि बर्तन बनाकर सुखा रहा था। बालक मुनि, बाल क्रीडा करता हुआ उधर आया, एक कंकर निशाना लगाकर उसने कुम्हार के घडो पर मारा। घडे फूट गये। कुम्हार ने देखा तो बाल मुनि की ओर घूर कर देखा, मुनि ने झट से कहा—'मिच्छामि दुक्कड।'

कुम्हार ने बात आई-गई कर दी और अपने काम मे लग गया। थोडी देर बाद फिर बाल मुनि ने ककर फैंका और उसके बर्तन काने कर डाले। कुम्हार को फिर गुस्सा आया, घूर कर बोला—क्या बात है मुनि जी! मुनि ने झट से कह दिया—'मिच्छामि दुक्कड।' यो बार-बार ककर मार कर बर्तन फोडता जाता और कहने पर 'मिच्छामि दुक्कड' बोलता जाता। कुम्हार को गुस्सा आ गया। वह उठा, मुनि का कान पकड कर ऐंठा। बालक मुनि चिल्लाने लगा, अरे क्या करता है? साधु का कान पकडता है? कुम्हार बोला—मिच्छामि दुक्कड! साधु बोला—यह क्या? मेरा कान खीचता जा रहा है और 'मिच्छामि दुक्कड' कहता जा रहा है? कुम्हार बोला—जैसा तुम बर्तन फोडते गये और मिच्छामि दुक्कड बोलते गये वैसा ही मैंने किया। जैसा तुम्हारा मिच्छामिदुक्कड वैसा ही मेरा 'मिच्छामिदुक्कड।'

तो, इस कुम्हार वाले 'मिच्छामि दुक्कड' से कोई लाभ नही होगा। सच्चे मन से पाप के प्रति ग्लानि और पश्चात्ताप होना चाहिए। पर्युषण के पवित्र दिनो में पाप की शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्नशील होकर साधक वर्ष भर के प्रमादाचरण के प्रति पश्चात्ताप करता हुआ 'मिच्छामि दुक्कड' लेता है, यही सावत्सरिक प्रतिक्रमण का रूप है।

३ आलोचना

प्रतिक्रमण भी यद्यपि आत्मालोचना ही है, किन्तु आलोचना (आलोयणा) को अलग बताने का कारण यह है कि प्रतिक्रमण तो साधक प्रतिदिन भी करता है, और वह आत्म-साक्षि से ही करता है, किन्तु आलोचना खासतौर पर गुरुजनो के समक्ष की जाती है।

स्थानाग सूत्र[1] मे प्रायश्चित्त के चार भेद बताये हैं। १ प्रतिसेवना प्रायश्चित्त २ सयोजना प्रायश्चित, ३ आरोपणा प्रायश्चित्त, ४ परिकुचना प्रायश्चित्त।

नही करने योग्य कार्य करना प्रतिसेवना है। इसकी शुद्धि के लिए आलोचना प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं।

---

१ स्थानाग ४।१। सूत्र २६३ तथा दशवै० १।१ हरिभद्रीय टीका

एक प्रकार के ही कई दोपो का एक साथ मिल जाना सयोजना है।

एक वार एक दोप सेवन किया, उसकी शुद्धि के लिए तप आदि का प्रायश्चित्त कर लिया। दुबारा उस दोप का सेवन करने पर उससे अधिक तप का प्रायश्चित्त देकर उस दोप की विशुद्धि करना यो तप रूप मे छ मास तक के तप का प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। इसे आरोपणा प्रायश्चित्त कहते हैं।

अपराध को छिपाना परिकु चना है। उसका प्रायश्चित्त दुगुना होता है। एक तो दोष सेवन का और दूसरा कपट का। उस प्रायश्चित्त को परिकु चना प्रायश्चित्त कहते हैं।[1]

इसमे जो पहला प्रतिसेवना प्रायश्चित है, उसके दश भेद हैं—उनमे पहला भेद हैं आलोचना है और दूसरा भेद है, प्रतिक्रमण।

जो दोप गुरुजनो के समक्ष सरलतापूर्वक स्पष्ट वचनो से प्रकट कर लिया जाता है वह आलोचना है। जो दोप आलोचना करने मात्र से दूर होकर आत्म-विशुद्धि हो जाती है, उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते है।

जिन दोपो की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण का विधान है, मिच्छामि दुक्कड करने मे जिनकी विशुद्धि हो जाती है—वह प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त है।

पर्यु षण मे आलोचना और प्रतिक्रमण इन दो करणीय कृत्यो का विशेप विधान है, इसलिए हम इन्ही पर यहाँ विचार कर रहे हैं। आलोचना का सीधा-सा अर्थ है—सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करना। आचार्य अभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका मे कहा है—

आ–अभिविधिना सकलदोषाणा

लोचना–गुरुपुरत प्रकाशना=आलोचना[2]

विधिपूर्वक—अर्थात् सरल भाव से, विनयपूर्वक गुरुजनो के समक्ष सभी दोपो को प्रकट कर देना–आलोचना है।

आलोचना करने के लिए आत्मा की सरलता और विनम्रता वहुत आवश्यक है। और जव आत्मा सरल होगी तभी शुद्धि होगी, 'सोही उज्जूभूयस्स'–ऋजूभूत सरल आत्मा की ही शुद्धि होती है। अगर मन में कपट रहा, अहकार रहा तो पहली वात तो वह आलोचना कर ही नही पाता, यदि लोक दिखावे के लिए शव्दो से आलोचना करता भी है, सिर्फ मुँह से अपनी भूल का उच्चारण कर देता है, पर उस उच्चारण के साथ यदि उसका हृदय नही वोलता है, हृदय में सच्चा पश्चात्ताप नही होता है तो

---

१ प्रायश्चित्त के अन्य भेदो के विस्तार के लिए देखें–भगवती सूत्र, शतक २५।उ०।७। तथा स्थानाग १०।७५३।

२ भगवती सूत्र २५।७ की टीका।

वह कपट आलोचना और भी दुखदायी है। उसमे पाप-सेवन का एक दोष तो हुआ ही दूसरा कपट का और दोष लग गया तो यह तो वही बात हुई—

दो मण पाप आगे हुतो सो मण लायो और।

तो आलोचना करने के लिए मन को सरल एव विनम्र बनाना बहुत ही आवश्यक है। आलोचना का लाभ ही यही है कि—

आलोयणाए ण माया-नियाण-मिच्छादसण सल्लाण मोक्खमग्गविग्घाण अणन्त ससारवद्धणाण उद्धरण करेइ। उज्जुभाव च जणयइ।[1]

—आलोचना करने से जीव माया-निदान एव मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यो (काटो) को आत्मा से निकाल फेंकता है। ये शल्य मोक्ष मार्ग के विघ्न है और अनन्त ससार बढाने के कारण हैं। इसलिए इनको निकालना बहुत आवश्यक है। आलोचना करने वाला सरल आत्मा इनको निकालकर नि शल्य हो जाता है।

स्थानाग सूत्र[2] मे कहा है कि जो व्यक्ति अपने दोषो की आलोचना कर लेता है, वह मर कर विशाल समृद्धि वाला, लम्बी आयु तथा उच्चजाति का देवता बनता है। उसका दर्शन, उसकी वाणी सबको प्रिय लगती है। इसके विपरीत बिना आलोचना किये मरने वाला दुर्गति मे जाता है। अगर देव योनि मे भी जाता है तो निम्न जातियो मे। वहाँ कोई उसका सम्मान नही करता, जब वह बोलता है तो चार-पाँच देवता उसे टोकते हुए कहते हैं—बस, रहने दीजिए। अधिक मत बोलिए।"

मतलब यह कि बिना आलोचना किये मरने वाला परलोक में निम्न गति मे जाता है, और सबको अप्रिय लगता है।

तो पर्युषण मे आलोचना का उपदेश विशेष रूप से दिया गया है कि जैसे वर्षा ऋतु मे मिट्टी नरम और मुलायम हो जाती है, उसमे बीज सरलता से उग आते हैं, उसी प्रकार पर्युषण में आलोचना करने से मन सरल और मृदुल नम्र हो जाता है। हृदय निशल्य होकर शान्ति और समाधि का अनुभव करता है। आँख मे पडा ककर, पैर मे लगा काँटा जितनी तकलीफ देता है उससे भी सौ गुनी हजार गुनी पीडा देता है मन का काटा, मन का शल्य। इसलिए मन की शान्ति और समाधि पाने के लिए पर्युषण मे आलोचना करनी अनिवार्य है।

४ तपश्चरण

पर्युषण का चौथा कृत्य है—तपश्चरण। पर्युषण आता है तो छोटे-छोटे बच्चो मे भी धार्मिक उल्लास जगमगाने लगता है। अन्य त्यौहारो मे जहाँ खाने-पीने की तैयारियाँ होती हैं, विविध मिष्टान्न-पक्वान्न बनाये जाते हैं, वहाँ पर्युषण आते ही

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९, सूत्र २

२ स्थानाग सूत्र, स्थान ८, सूत्र ५९७।

सहज रूप मे तप करने का मन होता है। उपवास, एकासना आयविल, वेला, तेला आदि तपस्याओ की होड-सी लग जाती है। यह इस पर्व की विशेषता ही है कि छोटे-छोटे वालको और वृद्धो मे भी त्याग-वैराग्य की भावना अपने आप जागृत होती है।

शास्त्र मे भी बताया है पर्युषण के अवसर पर विशेष प्रकार के तपश्चरण का उद्यम करना चाहिए। कम से कम विगय का त्याग, हरी वनस्पति आदि खाने का त्याग, एकासना आयविल, रात्रि भोजन त्याग यह तो प्रत्येक श्रावक को करना ही चाहिए। क्योकि त्याग से आत्मा मे सकल्प वल बढता है, तप से कर्मो को नाश करने की शक्ति जागृत होती है। तप की ज्वाला से कर्मों का घास-फूस जलकर भस्म हो जाता है। और आत्म-तेज प्रदीप्त होता है।

अगर शक्ति हो तो श्रमण एव श्रावक को उपवास, वेला, तेला से लेकर अठाई तक का तप भी पर्युषण मे करना चाहिए। तप मे एक वात का ध्यान रहे कि—

सो हु तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगलं न चितेइ।
जेण न इदियहाणी जेण य जोगा न हायंति॥

—मरणसमाधि १३४

वही तप करना चाहिए जो करने से मन अमगल न सोचे अर्थात् भूख-प्यास के कारण परिणामो मे आर्तध्यान न आये। इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-क्रियाओ मे विघ्न न आये।

क्योकि पर्युषण पर्व के दिनो मे सिर्फ तप ही नही अन्य धर्म-क्रियाएँ भी विशेष रूप से होती है अत तप अपनी शक्ति के अनुसार ही करने का निर्देश है, ताकि उसी के साथ-साथ ध्यान, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, आलोयणा आदि क्रियाएं निर्विघ्न रूप मे चलती रहे।

तप की विशेष प्रेरणा देने के लिए ही पर्युषण मे अतगड सूत्र का वाचन किया जाता है ताकि श्रोताओ को उन प्राचीन आदर्श पुरुषो के जीवन से नया आत्मवल और तप शक्ति प्राप्त हो।

५ क्षमापना

क्षमापना पर्युषण पर्व का सबसे महत्वपूर्ण कृत्य है। इसका महत्व इतना अधिक है कि पर्युषण एव सवत्सरी पर्व को ही 'क्षमापर्व' के नाम से पुकारा जाने लगा है। अगर पर्युषण पर क्षमा धर्म की आराधना नहीं की, कपायो की उपशाति नही की तो पर्युषण की कोई सार्थकता ही नही है। 'क्षमा' का विशेष महत्व होने के कारण इसका वर्णन अलग से किया जा रहा है।

इस प्रकार सक्षेप मे पर्युषण पर्व के करणीय कृत्यो पर हमने विचार किया है। इसके अतिरिक्त इन आठ दिनो मे प्रत्येक दिन कोई-न-कोई विशेष तप की आराधना करनी चाहिए। कभी मौन, कभी ध्यान, कभी स्वाध्याय, कभी विगयत्याग, कभी उपवास और कभी क्रोध आदि का परिहार कर क्षमा-आराधना।

आगम के अनुसार यहां मैं आठ बातो का निर्देश करना चाहता हूं जिनका उपदेश करने को कहा गया है—

भगवान महावीर ने कहा है—

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, सुस्सूमाणेसु वा पवेदए—

सति, विरति, उवसयं, णिव्वाणं,
सोयं, अज्जवियं, मद्दवियं, लाघवियं।[1]

जो धर्म मे तत्पर हैं, (उत्थित है) उनको, जो तत्पर नही है, उनको भी, अर्थात् सर्व साधारण को भी इन आठ बातो का उपदेश करना चाहिए—

१ शांति— अहिंसा, अर्थात् प्रत्येक प्राणी शान्ति चाहता है, अत. किसी भी प्राणी को न मारे, दया पालन करे, किसी को कष्ट न दे।
२ विरति— भोगो से विरक्ति का उपदेश करें। और व्रतो का पालन करें।
३. उपशम— क्रोध आदि कषायो को शान्त कर क्षमा एव निर्लोभता का अभ्यास बढाएँ।
४. निवृत्ति— जितनी अधिक हो सके निवृत्ति करें, भोगो से दूर हटें, लालसाओ से मुक्त रहे।
५ शौच— मन, वचन, एव काया को पवित्र रखे, राग-द्वेष से मन को कलुषित न होने दें।
६. आर्जव— माया, कपट से दूर रहकर सरल आचरण करें।
७ मार्दव— मान एव दुराग्रह को छोडकर विनम्र बनें।
८ लाघव— परिग्रह का त्याग कर मन का हल्का अर्थात् लघु रखें। आत्मा पर परिग्रह का भार न बढने दें।

उत्तराध्ययन सूत्र (११।४-५) मे भी आठ बातें बताई गई हैं। वे भी जीवन में बडी उपयोगी हैं। पर्युपण के आठ दिनो मे प्रत्येक दिन अगर एक-एक गुण का अभ्यास किया जाये तव भी उनसे जीवन मे नया प्रकाश, नई चेतना की स्फुरणा हो सकती है। वे आठ गुण हैं—

१ शाति— हंसी-मजाक आदि नही करना, इससे वाणी का सयम सधता है।
२ इन्द्रिय-दमन— इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो का सयम करने की आदत डालें।
३ स्वदोष-दृष्टि—अपने दोषो और अवगुणो पर ध्यान देवे, किसी का मर्म प्रकाश न करें।

---

१ १ आचाराग ६।५।

४ सदाचार— आचार मे कही दोष न लगने दें।
५ ब्रह्मचर्य— अपने शील को शुद्ध रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें।
६ अलोलुपता— रस आदि मे लोलुप न हो, जिह्वा का सयम करें।
७ अक्रोध— क्रोध का वर्जन करें। क्षमा रखें। किसी भी कटु से कटु प्रसग पर क्रोध न करें।
८ सत्याग्रह— सत्य मे दृढ रहे। कैसा भी प्रसग आये तब भी सत्य का त्याग न करें।

सपूर्ण विवेचन का सार यही है कि इस पर्व को आध्यात्मिक जागरण का पर्व मानकर आठ दिन तक यो बितायें जैसे साधक किसी नये ससार मे प्रवेश कर गया है, जहां न क्रोध है, न लोभ है न माया है, न अहकार है, न विषय-वासना है। बस, सर्वत्र शांति, समता और त्याग-वैराग्य की शीतलता परिव्याप्त हो। यही पर्युषण पर्व की सार्थकता है और यही उन दिनो की विशिष्ट अनुभूति है।



८

क्षमापर्व : क्षमा लो, क्षमा दो

वधुओ !

पर्युपण शब्द के अनेक अर्थों पर हमने विचार किया है। आपके समक्ष जो प्रश्न उठते हैं कि पर्युषण कब, क्यो करना चाहिए, और इस पर्वराज की आराधना कैसे की जाय ? इन सभी प्रश्नो पर सक्षेप मे मैंने अपने विचार शास्त्रीय आधार के साथ प्रस्तुत किये हैं। आठ दिन मे हम आठ कर्मों की उपशाति का प्रयत्न करें। आठ प्रकार के सदाचरणो का, आठ शिक्षाओ का पालन करें। दूसरी वात यह पर्व कृष्णपक्ष से प्रारम्भ होकर शुक्लपक्ष मे समाप्त होता है। इससे एक वात और भी सूचित होती है, वह यह कि पर्युपण अधकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान है। हम अधकार से, अज्ञान, मोह एव विकारो की गहन अधियारी से निकलकर ज्ञान, वीतरागता और स्वभाव के शुक्ल—प्रकाश पक्ष पर, उज्ज्वल मार्ग पर वढ़े, यह भी इससे सूचित होता है। जव हम कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष की ओर वढ़ेंगे तो अपने आप आत्मा में हल्कापन, उज्ज्वलता तथा ज्ञान की दिव्य रश्मिया जगमगाने लगेगी।

आत्मा की शाति एव उज्ज्वलता के लिए जो सवसे महत्वपूर्ण वात है, वह है कपायो की उपशाति। कपायो को उपशात किये विना आत्मा शान्ति का अनुभव नही कर सकेगी। कपाय निवृत्ति के लिए पर्युषण पर्व मे 'क्षमा' पर सवसे अधिक वल दिया गया है। सचाई तो यह है कि—

पर्युषण पर्व की 'क्षमा पर्व' के रूप मे ही सर्वाधिक प्रसिद्धि है। इसका कारण है, इस पर्व पर सवसे अधिक वल क्षमा पर ही दिया गया है। **पज्जूसमणा** का अर्थ ही किया गया है—पर्युपशमना। अर्थात् कषाय भावो की सब प्रकार से शान्ति करना। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय भयकर अग्नि हैं—'कसाया अग्गिणो वुत्ता' जिस हृदय मे यह अग्नि धधकती रहती है उस हृदय मे शान्ति की अनुभूति नहीं हो सकती, अग्नि की ज्वालाओ के पास जैसे हरदम अशान्ति और बेचैनी, अकुलाहट और छटपटाहट महसूस होती है, वैसी ही वेचैनी जव हृदय मे कपाय उद्दीप्त होती है तव अनुभव होती है। पर्युषण पर्व शान्ति अनुभव करने का पर्व है, इसलिए सवसे पहले कपायों का उपशमन करने पर वल दिया गया है। शास्त्र में कहा है—

खमियव्वं खमावियव्व, उवसमियव्वं उवसमावियव्वं[1]

—कलह हो गया हो, किसी को कटुवचन कह दिया हो, किसी के दिल को ठेस पहुँचाई हो तो उसी समय, उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, क्षमा माँगनी चाहिए और जो क्षमा माँगता है, उसे क्षमा देनी चाहिए। स्वयं को शान्त होना चाहिए और जो प्रतिपक्षी सामने खड़ा है उसे भी उपशान्त होने का अवसर देना चाहिए। क्योंकि—

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा॥

जो उपशान्त होता है, उसकी ही धर्माराधना सफल होती है, जो उपशान्त नही होता, उसकी सब धर्माराधना व्यर्थ जाती है। राख मे डाले हुए घी की भाँति अनुपशान्त व्यक्ति का तप भी व्यर्थ हो जाता है। भगवान ने इसीलिए कहा है—

उवसमसार खु सामण्ण

उपशम भाव—क्षमा, यही साधुता का सार है।

एक बार श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

"बिना क्षमा का जीवन रेगिस्तान है, यह मैंने प्रत्यक्ष जीवन मे अनुभव किया है।"

वास्तव में क्षमा से ही जीवन शान्त और आनन्दमय बन सकता है। क्षमा ऐसी अद्भुत वस्तु है जिसे लेने वाला भी सुखी होता है और देने वाला भी। क्षमा लेना और क्षमा देना—दोनो ही मनुष्य की महानता और उच्चता के द्योतक हैं और दोनो ही व्यक्ति जीवन मे सुखी होते हैं। क्षमावान व्यक्ति जीवन मे कितनी शान्ति और मधुरता अनुभव करता है, इसके विषय में एक राजस्थानी सन्त कवि ने कहा है—

क्रोधी तो कुढ-कुढ बलै, जिम-जिम ऊठे झाल।
खिमावन्त मन में खुशी, जाणै मिसरी पीधी गाल॥

क्रोधी व्यक्ति जैसे-जैसे क्रोध की अग्नि, टीस—जिसे झाल (ज्वाला) कहते हैं, वह भीतर उठती है वैसे-वैसे वह भीतर ही भीतर जलता रहता है। धीरे-धीरे जलकर खाक होता जाता है, उसका खून जल जाता है, ओज-तेज राख हो जाता है। किन्तु जो क्षमावान है, क्षमा देता है और क्षमा लेता है वह सदा ही मन मे प्रसन्न रहता है। वह इतनी शान्ति और शीतलता महसूस करता है जैसे मिसरी घोलकर पीली हो। मिसरी का शर्बत बहुत ठडा होता है, किन्तु क्षमा की ठडक तो उससे भी हजार-लाख गुणी अधिक है।

---

१ दशाश्रुतस्कध, ८, २४वी समाचारी सूत्र ७२

जिस मनुष्य मे क्षमा का गुण नही है, उसके सब गुण बेकार हैं। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—

नरस्य भूषणं रूप रूपस्याभूषणं गुण ।
गुणस्य भूषण ज्ञान ज्ञानस्याभूषण क्षमा ॥

मनुष्य की शोभा रूप से है, रूप की शोभा गुण से है। यदि रूप है और गुण नहीं है तो—रूप रूडो गुण वायरो रोहीडा रो फूल—वाली बात है। तो रूप की विशेषता गुण से है। गुण की शोभा ज्ञान से है। और ज्ञान की शोभा क्षमा से है। मनुष्य मे रूप है, गुण है, ज्ञान है, मगर क्षमा नहीं है तो विना नमक का भोजन है। इसलिए क्षमा जीवन मे सबसे बडा गुण है या सब गुणो का भूषण है।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि क्षमा (खति) से क्या लाभ होता है ? तो भगवान ने बताया—

खतिए णं जीवे परिसहं जिणइ

—क्षमा से प्राणी परीषह को जीत लेता है।

इसका रहस्य यह है कि क्षमा करने की वृत्ति से मनुष्य को सहनशीलता आती है, सहिष्णुता आती है, धीरता और गम्भीरता आती है। जीवन मे भी कष्ट आते हैं, विपत्तियाँ आती हैं, उनसे लडने के लिए, सकटो पर विजय पाने के लिए मनुष्य को सहिष्णुता और धीरता की सबसे बडी जरूरत है। सहिष्णु और धीर व्यक्ति ही जीवन मे सफल हो सकता है, ससार मे प्रतिष्ठा और इज्जत, यश और कीर्ति प्राप्त कर सकता है।

आप जानते हैं—देवताओ की प्रतिमा किस पत्थर की बनती है ? जो कच्चा पत्थर होता है उसकी या पक्के पत्थर की ? जिस पत्थर पर हथौडी छैनी चली और चूर-चूर। वह पत्थर कभी देव प्रतिमा के रूप मे प्रतिष्ठा नही पा सकता। जो पत्थर हथौड़े की चोटें खा सकता है, छेनी से तराशे जाने पर भी बिखरता नहीं, वही पत्थर देव प्रतिमा बन सकता है, और लाखो करोडो मनुष्यो के सिर अपने चरणो मे झुकवा सकता है।

क्षमा-सहिष्णुता से यही गुण जीवन मे आता है। मनुष्य मे सहन करने की वृत्ति जगती है। तितिक्षा और धीरता का गुण प्रकट होता है। इसलिए भगवान ने कहा है—क्षमावृत्ति से मनुष्य सब सकटों पर विजय प्राप्त कर जीवन-सग्राम में विजेता बन सकता है। इस प्रकार क्षमा से लौकिक एव पारलौकिक दोनो ही जीवन सफल हो जाते हैं।

मैत्री व एकत्वभाव—क्षमा का जनक

क्रोध पर विजय प्राप्त करने से 'क्षमा वृत्ति' का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए भगवान ने कहा है—

कोहविजए ण जीवे खंति जयणइ।

—क्रोध विजय से जीव क्षमा को उत्पन्न करता है।

और क्रोध आता है वस्तु मे भेद समझने के कारण। दूसरे को पर-समझने के कारण उस पर क्रोध आता है। जैसे किसी ने हम पर पत्थर फेंका तो हमे उस पर क्रोध आ गया, लेकिन समझो अगर अपने हाथ मे ही पत्थर है और वह छूटकर अपने हाथ-पैर पर गिर गया, चोट लग गई तो ? किस पर क्रोध करेंगे ? अपने आप पर क्रोध आयेगा ? नहीं। क्योकि आप समझते हैं कि अपनी ही भूल से यह चोट लगी है ? अपने दांतो से जीभ कट गई, अपने पैर से पैर को ठोकर लग गई, अपनी ही भूल से कोई नुकसान हो गया, अपने से पैसा खो गया तो आप अपने आप पर क्रोध नही करेंगे, न स्वयं को गाली देंगे और न अपना दांत तोड़ेंगे, न हाथ को सजा देंगे। विचारको ने कहा—इसी प्रकार समस्त जगत के साथ अपनत्व भाव पैदा करो, समस्त जगत को मित्रवत् समझो—

मित्ती मे सव्वभूएसु
वेरं मज्झ न केणइ।

मेरी समस्त जीवो से मैत्री है, मेरा कोई शत्रु नही है, कोई पराया नही। विश्व बधुत्व की यह भावना मनुष्य के हृदय मे मैत्री और अपनत्व के सस्कार जगाती हैं, इससे क्षमा भाव उत्पन्न होता है।

यह ध्यान देने की बात है कि आसक्ति और रागवृत्ति को दूर करने के लिए सब वस्तुओ मे भेद-बुद्धि रखी जाती है, ताकि ममत्व न हो, किन्तु क्रोध और द्वेष वृत्ति को समाप्त करने के लिए प्रत्येक वस्तु को आत्मतुल्य-आत्मौपम्य बुद्धि रखने का उपदेश दिया गया है—**अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाये, आय तुले पयासु,** ये आगम वाक्य सब मे आत्म-बुद्धि रखने की प्रेरणा देते है। किसी अपेक्षा से आगम ने भेदबुद्धि का भी उपदेश किया है और किसी अपेक्षा से अभेदबुद्धि का भी। क्रोध एव द्वेष की उपशान्ति के लिए जगत् मात्र को अभेद बुद्धि से देखा जाता है। प्राणिमात्र को आत्मवत् या मित्रवत् समझा जाता है, इससे किसी के प्रति क्रोध आता भी है तो वह शीघ्र ही शान्त हो जाता है, क्योंकि अपनो से या अपनी सन्तान एव स्वजन से कोई द्वेष नहीं करता।

पर्युषण पर्व के अन्तिम दिन सवत्सरी आती है और उसके दूसरे दिन आजकल मैत्री दिवस के रूप में मनाया जाता है, इसका भी यही रहस्य है कि हम समस्त जगत् को अपना मित्र मानकर किसी के प्रति द्वेष और वैमनस्य न रखें। मन मे मित्रता के मधुर सस्कार जगायें। इससे मन को प्रसन्नता और आह्लाद की अनुभूति भी होगी। भगवान महावीर ने कहा है—

खमावणयाए णं जीवे पल्हायणभाव जणयइ

—क्षमापना करने से जीव को प्रसाद भाव—आनन्द एव प्रसन्नता की अनुभूति होती है। क्षमा करने वाले के हृदय मे आह्लाद का सागर तरगित होता रहता है।

उसके भीतर व्यक्त चेतना मे ही नही, किन्तु अव्यक्त चेतना में भी एक प्रकार की शान्ति, शीतलता और कृतकृत्यता की रसधारा सी प्रवाहित होने लगती है। वह हृदय को अत्यन्त हल्का और प्रसन्न महसूस करता है।

आपने महासती मृगावती एव चन्दनबाला का प्रसग सुना होगा, जब दोनो एक दूसरे को खमाने लगती हैं तो उस क्षमापना की भावधारा मे ही दोनो को दिव्यज्ञान-केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है—

भगवान महावीर एक बार कौशाम्बी मे पधारे। समवसरण मे हजारो, लाखो देवता आये। सूर्य-चन्द्र भी अपने असली रूप मे दर्शन करने आये।[1] उनके विमानो का प्रकाश इतना फैला कि सध्या हो जाने पर भी किसी को सूर्यास्त का पता ही नही चला। सूर्यास्त समय होने पर भी दिन का सा उजेला हो रहा था। उस समय महासती मृगावती भगवान को वन्दना करने आई हुई थी। सूर्य-चन्द्र मडल के प्रकाश मे उसे विकाल वेला का पता ही नही चला। अन्य साध्वियाँ महासती चन्दनबाला के साथ अपने स्थान पर आ गई थी और विकाल वेला होने पर प्रतिक्रमण करके अपने स्वाध्याय ध्यान मे लीन हो गईं। जब सूर्य-चन्द्र गये तो सहसा अंधकार हो गया। मृगावती सती चौकी और तत्काल अपने स्थान पर आई। विकाल वेला होने पर महासती चन्दनबाला ने उसे टोका—आर्या! आपने यह भूल कैसे की? विकाल होने पर साध्वी को साधुओ के उपाश्रय मे नही रहना चाहिए, आप इतनी विज्ञा होकर भी इतनी भयकर भूल कैसे कर बैठी? आप जैसी कुलीन साध्वी को यह भूल शोभा नही देती।"

समझदार को थोडा-सा उपालभ भी बहुत होता है। महासती मृगावती को गुरुणी का यह उपालभ सचमुच ही प्रकाश की एक किरण सिद्ध हुआ। तुरन्त ही अत्यन्त नम्रता और सरलता के साथ उसने गुरुणी के चरणो मे क्षमा याचना की—आर्या! सचमुच मुझ से बहुत बडी भूल हो गई। भविष्य मे सदा ध्यान रखूँगी।

महासती चन्दनबाला अपने ध्यान आदि से निवृत्त होकर निद्राधीन हो गई। किन्तु मृगावती सती आत्मालोचन करती रही। आज की अपनी भूल पर बार-बार पश्चात्ताप करती हुई जीव के प्रमाद स्वभाव पर विचार करने लगी। आत्म-निरीक्षण मे उनकी भावना इतनी गहरी पहुँची कि कर्मों का क्षय करती हुई महासती मृगावती केवलज्ञान से विभूषित हो गई। अनन्त ज्ञानालोक उनके अन्तर जगत को प्रकाशमान करने लगा।

उसी समय, रात के गहन अन्धकार मे एक काला नाग घूमता हुआ महासती चन्दनबाला के पास आ गया। सती मृगावती तो अपने ज्ञानालोक से सब देख रही थी

---

१ भगवान महावीर के २४ वें वर्षावास की घटना।

उन्होंने गुरुणी (चन्दनवाला) का हाथ जरा-सा ऊँचा उठा दिया। चन्दनवाला एकदम जाग पडी। पूछा—मेरा हाथ ऊँचा किसने किया ? क्यो किया ?

सती मृगावती ने अत्यन्त नम्रता के साथ कहा—आपके हाथ के पास से एक नाग निकल रहा था। इसलिए मैंने हाथ ऊँचा कर दिया ?

चन्दनवाला—इस अन्धकार मे आपको साँप कैसे दीख सका ?

मृगावती—ज्ञान से ?

आश्चर्यपूर्वक चन्दनवाला ने पूछा—क्या कोई ज्ञान हुआ है ?

मृगावती—आपकी कृपा से ?

चन्दनवाला—प्रतिपाती या अप्रतिपाती ?

मृगावती—आपकी कृपा से अप्रतिपाती (कभी नही जाने वाला) ज्ञान हुआ है।

सुनकर साध्वी चन्दनवाला स्तब्ध रह गई। वह सोचने लगी—हन्त ! मैंने केवली की अशातना कर दी ? आज इनको मैंने कितना उपालम्भ दिया ? वह केवली महासती मृगावती को खमाने लगी और स्वय की निन्दा (आत्म-निन्दा) करने लगी। आत्मालोचन और क्षमापना करते-करते महासती चन्दनवाला ने भी अपने घाति कर्मों का नाश कर डाला और वह भी केवलज्ञानी हो गई।

तो, इस प्रकार क्षमा लेने वाली और क्षमा देने वाली दोनो ही आत्म-निरीक्षण करते-करते कर्मों के समूह का नाश कर केवली वन गईं। यह चमत्कार है क्षमापना का ! इसीलिए तो भगवान ने कहा है—

खमावणयाए णं पल्हायण भाव जणयइ—क्षमापना से आत्मा मे प्रसाद भाव की जागृति होती है, और उससे कर्मों का नाश होकर अपूर्व आनन्द व शाति की अनुभूति होती है।

विना क्षमापना के आराधना नहीं

क्षमा दान का आध्यात्मिक जीवन मे तो वहुत अधिक महत्त्व है ही, व्यावहारिक जीवन में भी वहुत महत्त्व है। जव तक क्षमादान नहीं किया जाता, हृदय की गाँठ नहीं खुलती। और गठीला आदमी, हृदय की गाँठ वाला मनुष्य ससार मे कही भी आदर नहीं पा सकता। गाँठ वाली लकडी का न कोई फर्नीचर वन सकता है, न वाँसुरी और न कोई अच्छी वस्तु ! जिस चीज मे गांठ होती है उसे अशुभ मानते हैं। शरीर में भी अगर गाँठ होती है तो डाक्टर लोग उसे रसोली कहते हैं और आपरेशन द्वारा निकाल देते हैं। शरीर की गाँठ निकलने पर ही शरीर मे शाति और चैन मिल सकती है। तो, जव शरीर की गाँठ का भी यह हाल है तो मन की गाँठ का तो और भी कष्ट होगा। मन एव आत्मा मे जव तक गाँठ लगी है तव तक धर्म का सचार नहीं हो सकता। इसीलिए तो भगवान महावीर ने कहा है—जो नि शल्य नहीं होता।

वह आराधक नही हो सकता। जो कषाय का, क्रोध का, उपशमन नही करता—वह धर्म का आराधक भी नही—

जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा।
जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा॥

—जो क्रोध का उपशमन नही करता। उसकी आराधना नही होती। जो क्रोध आदि का उपशमन करता है, खमत-खामणा करता है वही आराधक होता है।

आप लोगो ने राजा उदायन का कथानक सुना ही होगा। पर्युषण पर्व की आराधना के लिए उसने अपने अपराधी दुश्मन (चडप्रद्योत) को भी जाकर खमाया और कितनी सरलता एव विनम्रता के साथ ! वह व्यग्य मे बोलता गया—यह कैसा खमत-खमाना ? मुझे बन्दी बनाकर खमा रहे हो ? मैं तो ऐसे क्षमापना नही करता। पहले मुझे बधन मुक्त करो, तभी मैं क्षमापना करूँगा ?

सरलहृदय उदायन ने अपने पौषधव्रत की, पर्युषण पर्व की, आराधना के लिए मन को नि शल्य बनाया और सचमुच मे शत्रु को बन्धनमुक्त करके उसे समानता का अधिकार दिया और फिर उससे क्षमापना कर अपनी सरलता, नम्रता और उपशान्त वृत्ति का अद्भुत परिचय दिया। उदायन का यह क्षमापना ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर आज भी आदर्श बना हुआ है और हमे पर्युषण मे क्षमापना की अमर प्रेरणा दे रहा है।

क्रोध की उग्रता के कारण चण्डकौशिक नाग ने कितने कष्ट पाये, क्षुल्लक मुनि ने क्रोध को शान्त कर चातुर्मासिक तपस्वी से भी अपनी साधना को उत्कृष्ट बना दिया।[1] मान कषाय की उग्रता के कारण अतुकारी भट्टा को कितने भयकर कष्ट उठाने पडे। माया एव लोभ कषाय के कारण भी साध्वी पडा और आर्यमगु ने कैसी दुर्गति पाई—ये उदाहरण हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे विद्यमान है। आचार्यों ने इन उदाहरणो के माध्यम से हमे कषायो की उपशाति की प्रेरणा दी है और आत्म-शुद्धि व आत्म-शाति के लिए कषाय-शुद्धि व कषाय शान्ति करने का उपदेश किया है। इन सब उदाहरणो पर मनन-अनुशीलन कर क्षमादान का महत्व समझना चाहिए और कषाय वृत्तियो को क्षीण करना चाहिए। वास्तव मे कषाय का नाश ही कर्मों का नाश है, कषाय मुक्ति ही कर्म-मुक्ति है। इसीलिए तो कहा है—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे
न तर्कवादे न च तत्ववादे।
स्व-पक्ष सेवाश्रयणे न मुक्ति
कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।

---

१ राजा उदायन एव अन्य कथानक परिशिष्ट २ मे देखें।

मुक्ति का असली स्वरूप कषाय-मुक्ति ही है। न तो दिगम्बर रहने से मुक्ति मिलती है, और न श्वेताम्बर रहने से, तर्कशास्त्र पढने से भी मुक्ति नहीं मिलती और न तत्ववाद मे निपुणता प्राप्त करने से ही कोई मुक्तिलाभ होता है। अपनी परम्परागत बातों का कितनी ही दृढता से पालन करो, उनसे मुक्ति नही, मुक्ति तो वास्तव मे तभी मिलेगी जब कषाय से मुक्ति मिल जायेगी।

पर्युषण और सवत्सरी—कषाय मुक्ति का पर्व है। इन दिनो मे कषायो की पर्युपशमना, उपशाति करके ही हमे आत्म-शाति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही पर्युषण पर्व की सच्ची आराधना है। यही क्षमा पर्व का सन्देश है—तुम स्वय समस्त जीव जगत से क्षमायाचना करो और दूसरो को क्षमा दान दो।



१

पर्युषण में पठनीय आगम

कल्पसूत्र · पढ़ने की ऐतिहासिक परिपाटी

बन्धुओ !

पिछली बार आपको यह बताया जा चुका है कि मूलत पर्युषण एक ही दिन का है, जिसे सवत्सरी कहते हैं, किन्तु उस पर्व की आराधना-समाराधना के लिए, आन्तरिक शुद्धि की तैयारी करने के लिए आचार्यों ने इसे अष्टाह्निक पर्व का रूप दे दिया। इस प्रसग मे जीवाभिगम सूत्र का यह उल्लेख भी महत्वपूर्ण है कि—नन्दीश्वर द्वीप मे चातुर्मासिक प्रतिपदा तथा सवत्सरी—पर्युषण पर्व के दिन, वैमानिक आदि चारो जाति के देव एकत्र होकर बडे उत्साह और समारोह के साथ—**अट्ठाहिता रूवाओ महामहिमाओ करेमाणा**[1]—अठाई महोत्सव के रूप मे महान महिमा करते हैं। यह उत्सव किस प्रकार का होता है, इसमे आमोद-प्रमोद ही मनाया जाता है या अन्य धार्मिक कृत्य भी होते हैं—यह वहाँ स्पष्ट नही किया गया है, किन्तु यह तो पता चलता ही है कि पर्युषण—सवत्सरी को अष्टान्हिक महोत्सव के रूप मे मनाने की यह प्राचीनतम परिपाटी है।

स्वभावत मनुष्य देवताओ से अधिक धार्मिक भावना वाला है, देवतागण सिर्फ मन से ही धर्म का आचरण करते हैं, जबकि मनुष्य काया से व्रत-नियम-तप-त्याग आदि के रूप मे सक्रिय धर्माचरण भी कर सकता है। इसलिए पर्युषण के अष्टान्हिक महोत्सव को धार्मिक मनुष्यो ने अष्टान्हिक पर्व का रूप देकर आठ दिन तप-त्याग मय मनाने की परिपाटी चालू की है, यह सहज ही सभव लगता है। इन दिनो मे मुख्यत आत्मशुद्धि की तैयारी की जाती है। साधक अपने व्रत-नियमों आदि का पुन अवलोकन कर उनका निरीक्षण करता है कि मेरी ग्रहण की हुई, मर्यादा व नियमो मे कही कोई दोष तो नही लगा है न ? इस आत्म-निरीक्षण के लिए वह अपनी आचार-सहिता के ग्रन्थो का पुन-पुन अवलोकन करता है। उन पर मनन करता है और चिन्तन करता है।

---

१ जीवाभिगम सूत्र, नन्दीश्वर द्वीप वर्णन,

प्राचीनकाल मे यह परिपाटी थी कि श्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर मे कल्पसूत्र (पर्यु पणा कल्प समाचारी) का पठन व श्रवण करते थे। उसमे समाचारी का ही मुख्य वर्णन था। साधु के आचार-विचार और नियमो का, भिक्षाचरी, गमनागमन, विहार, केशलोच, क्षमापना आदि का विस्तृत वर्णन उसमे था, इसलिए पर्यु षण काल मे उसके पठन और श्रवण से उसका ज्ञान पुन ताजा हो जाता था, और प्रत्येक साधक अपनी मर्यादाओ मे जागरूक होकर पुन सुस्थिर होने का प्रयास करता है। कल्पसूत्र के पृथ्वीचन्द टिप्पण मे यहाँ तक बताया गया है कि यह कल्पसूत्र, गृहस्थ या अन्यतीर्थी के समक्ष नही पढना चाहिए, क्योकि वह आचार-ग्रन्थ होने से सिर्फ श्रमण-श्रमणियो के लिए ही उपयोगी है।[१] यद्यपि चूर्णि एव टिप्पणकार का यह मत कोई विशेष तर्क युक्त नही लगता है, क्योकि आयारदशा मे बताया गया है—"कि राजगृह नगर के गुणशीलक चैत्य मे बहुत से श्रमण-श्रमणियो एव बहुत से श्रावक-श्राविकाओ, देव-देवियो की परिषद के समक्ष भगवान महावीर ने इस पर्यु षणाकल्प नामक आठवें अध्ययन का अर्थ, हेतु, कारण आदि के साथ विवेचन कर उपदेश किया।"[२]

जब भगवान महावीर ने सब परिषद के समक्ष इसका वाचन किया तो फिर अन्य श्रमण-श्रमणियो को अन्य परिषद के समक्ष उसका वाचन नही करना, यह बात समझ मे कम आने वाली है, तथा तर्क-सगत भी नही प्रतीत होती, फिर भी जैसा प्राचीन ग्रन्थो मे लिखा है वैसा भी माना जाय तब यह प्रश्न खडा होता है, कि फिर पर्यु षणा-काल मे कल्पसूत्र का वाचन क्यो और कब प्रारम्भ हुआ, उसके पीछे क्या-क्या कारण रहे होंगे ?

कल्पसूत्र की प्राचीन चूर्णि मे बताया गया है कि लगभग वीर-निर्वाण के १ हजार वर्ष बाद आज से १५०० वर्ष पूर्व आनन्दपुर नगर मे ध्रुवसेन नामक जैन धर्मानुयायी राजा हुआ। उसका एकमात्र पुत्र लघुवय मे ही काल-कवलित हो जाने से राजा शोक सागर मे डूब गया। यह दुर्घटना पर्यु षण के दिनो में ही घटी। इसलिए जैन सघ पर भी इसका अधिक असर पडा। तब राजा के पुत्र शोक को दूर करने के लिए किसी चैत्यवासी मुनि ने चतुर्विध सघ के समक्ष कल्पसूत्र का वाचन किया। तभी से कल्पसूत्र—जनता के समक्ष पढने की परिपाटी प्रारम्भ हो गई।

कल्पसूत्र के आकार मे परिवर्तन

ध्रुवसेन राजा की इस घटना को प्राय सभी विद्वानो ने माना है। किन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि राजा का पुत्र शोक दूर करने के लिए कल्पसूत्र का ही वाचन क्यो किया गया ? जबकि इसमे तो सिर्फ साधु-सतियो की समाचारी का ही वर्णन है ? उत्तराध्ययन सूत्र, ज्ञातासूत्र अन्तगड, अनुत्तरोपपातिक दशा जैसे वैराग्यप्रधान सूत्रो

---

१ कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द टिप्पण (कल्पसूत्र-प्रस्तावना देवेन्द्रमुनि)
२ आयारदशा (मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' पृ० १३५) ८।७७

का वाचन क्यो नही किया गया ? इस प्रश्न का समाधान भी विद्वानो ने खोजने का प्रयत्न किया है। कुछ विद्वानो का कहना है कि वीर निर्वाण के हजार वर्ष बाद भारतवर्ष मे ब्राह्मणवाद का जोर फिर से वढने लग गया था। बौद्ध सप्रदायो का भी पुन अभ्युदय हो रहा था। और श्रमण सप्रदायो में प्रभावक आचार्यों का अभाव होने लग गया था। चातुर्मास काल मे ब्राह्मण सप्रदाय मे रामायण, महाभारत, भागवत जैसे ग्रन्थो के वाचन-श्रवण की प्रथा भी खूब जोर पकड रही थी। जनता उस ओर आकर्षित होती थी। झुण्ड के झुण्ड जमा होकर उन ग्रन्थो का पठन-पाठन और श्रवण चातुर्मास में करते और इसे विशेष महत्व देते। बौद्ध सप्रदाय मे भी भगवान बुद्ध के जीवन ग्रन्थ और विनय-आचार-शिक्षा के ग्रन्थ खूब पढे जाते थे। जबकि जैन सम्प्रदाय मे तब तक कोई ऐसी परिपाटी नही थी। अपने पडौसी सम्प्रदायो मे ऐसी प्रथा देखकर जैनो का भी उस ओर आकर्षण वढना स्वाभाविक था। उनमे भी अपने त्यागी महापुरुषो की जीवन-गाथाएँ सुनने, उनके त्याग-तपोमय जीवन की प्रेरक कहानियाँ तथा उनके आचार-मर्यादाओ की जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जनता की इस भावना से बुद्धिशाली जैन आचार्य परिचित हुए, जन-रुचि का ध्यान रखना और तदनुकूल प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना—जैनाचार्यों की विशेषता रही है। ध्रुवसेन राजा की घटना उसी समय घटी और तब इस ओर सोचने का एक प्रसग वना। इस घटना के बहाने ही सही, आचार्यों ने कल्पसूत्र का वाचन जनसभा मे प्रारम्भ कर दिया। उसमे अपने आराध्य देवो का जीवन चरित्र प्रारम्भ मे जोड दिया गया, जो पहले नही था, और समाचारी का भाग जो पहले साधुओ के समक्ष ही पढा जाता था, उसे गौण करके बाद मे रख दिया।[1]

कल्पसूत्र के प्रारम्भ मे भगवान महावीर का विस्तृत जीवन चरित्र जुड जाने से वह अत्यधिक उपयोगी हो गया। यद्यपि भगवान महावीर का जीवन चरित्र आचारांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के अध्ययन ८ मे है किन्तु एक तो वह बहुत ही सक्षेप मे है, फिर प्रथम आचाराग की भाषा भी बडी कठिन और सूत्रशैली वाली है, इसलिए वह साधारण पाठक के लिए दुर्बोध है। कल्पसूत्र का सम्पादन और परिवर्धन जिन विद्वान आचार्यों ने किया, उन्होंने जन रुचि का विशेष ध्यान रखा। भागवत मे जैसा वर्णन, जिस शैली मे श्रीकृष्ण का किया गया है, उन्होंने कुछ अशो मे वही शैली अपनाकर कल्पसूत्र मे भगवान महावीर का चमत्कारो से परिपूर्ण रोचक जीवन चरित्र लिखा। इससे जनता का आकर्षण वढा, धीरे-धीरे कल्पसूत्र का वाचन खूब बढने लगा कल्पसूत्र की मूल आगम के वरावर ही प्रतिष्ठा हो गई। उस पर प्राकृत-सस्कृत भाषा मे कई टीकाएं, सुवोधिकाएँ और टिप्पण आदि लिखकर उसे और अधिक रोचक तथा जनोपयोगी वनाया गया। इस प्रकार पर्युषण मे कल्पसूत्र का वाचन सार्वजनिक रूप मे नियमित होने लग गया। धीरे-धीरे उसके अलग-अलग अश अलग-अलग दिनो मे

---

१ पर्युषणपर्व व्याख्यान माला, पृष्ठ ११-१२ पडित सुखलाल जी।

पढने की परिपाटी भी चल पडी। अमुक दिन-भगवान का जन्म, अमुक दिन दीक्षा, अमुक दिन निर्वाण—इस प्रकार विभाग कर ७-८ दिन मे वह वाचन पूर्ण किया जाता।

इस प्रकार पर्युषण के आठ दिनो मे कल्पसूत्र पढ़ने की एक अखड परम्परा चल पडी जो आज भी चालू है। श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदायो में पर्युषण मे व्यक्ति चाहे अन्य कुछ तप-त्याग आदि कर सके या नहीं, परन्तु कल्पसूत्र पढने व सुनने का अवश्य ही प्रयत्न करता है। हमारे स्थानकवासी समाज मे भी अनेक स्थानो पर कल्पसूत्र पढा जाता है। कही प्रात और कहीं मध्यान्ह के समय। भगवान महावीर तथा अन्य तीर्थंकरो का जीवन चरित्र सुनकर सामान्य श्रद्धालु भी आनन्दित हो उठते हैं।

कल्पसूत्र मे आज तीन भाग हैं—प्रथम भाग मे तीर्थंकरो का जीवन चरित्र है। सबसे पहले भगवान महावीर का विस्तृत जीवन चरित्र है। महावीर स्वामी हमारे निकटतम उपकारी थे, और वर्तमान धर्म परम्परा उन्ही की देन है, इसलिए सबसे पहले उन्ही का जीवन चरित्र अकित किया गया है और फिर भगवान पार्श्व, आदि व्यतिक्रम से चलते हुये सबसे अन्त मे भगवान ऋषभदेव का वर्णन है।

कल्पसूत्र का दूसरा भाग स्थविरावली है। जिन चरित्र के पश्चात् गणधरो से स्थविरावली का प्रारम्भ होता है। इन्द्रभूति गौतम से लेकर ग्यारह गणधर, आर्य सुधर्मा (पचम गणधर), आर्य जम्बूस्वामी, आर्यप्रभव आदि का वर्णन करते हुए भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक की परम्परा का वर्णन कल्पसूत्र की स्थविरावली मे किया गया है। इस परम्परा के अनुसार अन्तिम श्रुतधर (एक पूर्वधर) आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण हुये। वहाँ तक की परम्परा को 'भाव-परम्परा' अर्थात् शुद्ध परम्परा माना गया है। उसके बाद जैन संघ मे अनेक प्रकार के शिथिलाचार और वाद-विवाद खडे हो गये जिनके कारण उसकी उच्चतम गरिमा भी क्षीण होने लग गई, जनता मे उसका व्यापक प्रभाव कम होता गया और श्रमण की शुद्ध आचार परम्परा के स्थान पर, चमत्कारपूर्ण क्रियाकलाप तथा सुविधा वादी आचार-परम्परा चल पडी।

कल्पसूत्र का तीसरा भाग समाचारी है। यही उसका अन्तिम विभाग है। ज्ञान का सार आचार है—णाणस्स सारं आयारो—आचार ही मुक्ति का साधन है। आचार का निर्दोष और शुद्ध पालन करना प्रत्येक श्रमण-श्रमणी का कर्तव्य है, वही उनका जीवन व्रत है। उसका निरूपण, कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान कराने वाला भाग समाचारी प्रकरण मे है। समाचार का अर्थ है—सम्यक् आचार। कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक तथा साधु जीवन की निर्दोष प्रवृत्ति। इसका वर्णन ही समाचारी है। यह कल्पसूत्र के तीसरे भाग मे है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कल्पसूत्र का प्राचीनतम भाग यही समाचारी है। इसे ही **'पज्जोसवणा कप्प'** (पर्युषणा-कल्प) कहा गया है, जो आयार

दशा (दशाश्रुतस्कध) का ८वा अध्ययन है। डाक्टर विंटरनिट्स ने भी इसे ही कल्प-सूत्र का प्राचीनतम भाग होने की सम्भावना व्यक्त की है।[1]

सक्षेप मे कल्पसूत्र का यह परिचय है, और पर्युषणा-काल मे उसके पढने की एक कहानी है।

अन्तगड सूत्र का वाचन कारण और उपयोगिता

भगवान महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद से पन्द्रह सौ वर्ष तक का लगभग पाँच सौ वर्ष का मध्य काल कई दृष्टियो से जैन धर्म की अवनति का काल माना जाता है। इस युग मे अनेक प्रभावशाली विद्वान आचार्य तो हुए, लेकिन आचार की दृष्टि से वे इतने सशक्त और सम्पन्न नही थे। धर्म मे आडम्बर, द्रव्य पूजा और लौकिक एषणाओ के कारण वे राजकीय मान-सम्मान और चमत्कारो मे फँसकर साधु के उज्ज्वल निर्मल चारित्र से कुछ दूर हटने लग गये थे। आगम वर्णित साध्वाचार के नियमो मे काफी ढीलाई आ गई थी। आगमो मे यत्र-तत्र द्रव्य पूजा, जिन मन्दिर-निर्माण आदि के क्षेपक भी डाल दिये जाने का साहस कुछ आचार्य करने लग गये थे। इस प्रकार साधु जीवन की, अहिंसा-सत्य-अपरिग्रह की उज्ज्वल मर्यादा खडित होने लग गई थी।

पर्युषण मे कल्पसूत्र का वाचन करने की परिपाटी काफी प्रचलित हो चुकी थी और वह आगम की भाँति ही जनता की श्रद्धा का केन्द्र बन गया। इस श्रद्धा का लाभ उठाकर आचार्यों ने कल्पसूत्र के माध्यम से भी आडम्बर को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। भगवान का जन्म-अभिषेक, जन्म-महोत्सव, दीक्षा कल्याणक आदि के वाचन पर अनेक प्रकार की पूजाएँ, आडम्बर और जिन-चैत्य आदि के लिए धन सग्रह के आयोजन होने लग गये। मतलब यह है कि कल्पसूत्र को आधार बनाकर शुद्धधर्म मे अनेक प्रकार के आडम्बर आ घुसे। विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि भुलाई जाने लगी और बाह्य दृष्टि मुख्य बन गई। पर्युषण का लक्ष्य आत्म-शुद्धि कम रह गया, उत्सव, समारोह और आडम्बर अधिक हो गया।

इस स्थिति को देख कर कुछ अध्यात्म प्रेमी साधको का मन बहुत चिन्तित हुआ। पर्युषण को वे शुद्ध आध्यात्मिक जागृति का पर्व ही रखना चाहते थे, तप-त्याग एव आत्म निरीक्षण की प्रेरणा का पर्व ही रखना उनका लक्ष्य था।

अध्यात्मोन्मुखी आचार्यों ने कल्पसूत्र के स्थान पर किसी अन्य आगम का पारायण पर्युषण मे करने का चिन्तन किया, वे ऐसा आगम खोज रहे थे जिसमे तप-त्याग की अमूल्य प्रेरणाएँ भी हो, महापुरुषो के जीवन का इतिहास भी हो। घटना बहुल तप-त्याग प्रधान चरित्रो की खोज मे उनकी दृष्टि अन्तगड सूत्र पर जमी। यह एक ऐसा आगम था, जिसमे भगवान नेमिनाथ, वासुदेव श्रीकृष्ण और भगवान महावीर के युग

---

१ हिस्ट्री आव इडियन लिटरेचर डा० विंटरनिट्स

के अनेक महान तपस्वि-मुमुक्षुओं वीर साधको, क्षमा और सरलता की विरल विभूतियों का चरित्र एक साथ गुँथा हुआ है। तप, त्याग, तितिक्षा, क्षमा, सेवा, सरलता और सहनशीलता के ऐसे अपूर्व चरित्र इस आगम मे हैं, जिन्हे पढ-सुनकर पाठक को और श्रोता को रोमाच हुये विना नहीं रहता। उसकी भावना ऊर्ध्वमुखी वन जाती है और वह आध्यात्मिक वातावरण मे रम जाता है। इसके कथा सूत्र भी वडे रोचक हैं, और प्रेरणाएँ भी वडी तेजस्वी और सवल है। आचार्यो ने देखा—यह आगम कल्पसूत्र का विकल्प वन सकता है। कल्पसूत्र के स्थान पर इसका वाचन अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

वस, विचार कार्य रूप मे वदला और धीरे-धीरे कल्पसूत्र के स्थान पर अतगड सूत्र के वाचन की परम्परा प्रारम्भ हो गई। हालांकि कल्पसूत्र अधिक लोकप्रिय हो चला था, इसलिए उसका वाचन मध्यान्ह के समय किया जाने लगा और अतगड सूत्र एव आचाराग सूत्र का महावीर चरित्र मुख्य रूप से प्रात कालीन मुख्य प्रवचन का विषय वन गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से, कल्पसूत्र के स्थान पर अतगड सूत्र का वाचन कव किन आचार्यों ने प्रारम्भ किया, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख आज नहीं मिलता है, पर ऐतिहासिक कारणो की खोज में यह वात स्पष्ट प्रतीत होती है कि यह महान परिवर्तन-लोकाशाह की उस धर्म-क्रान्ति का ही परिणाम है, जो इस युग मे फैले हुए शिथिलाचार, धार्मिक आडम्बर और द्रव्यपूजा के विरुद्ध की गई थी। समवत. स्थानकवासी परम्परा के आदि आचार्यों ने ही यह परिवर्तन किया हो, कुछ भी हो, किसी ने भी यह परिवर्तन करने का साहस किया हो, पर जिस किसी तेजस्वी सतपुरुष ने यह परिवर्तन किया, वह सचमुच ही वडे साहसी, दीर्घद्रष्टा और अध्यात्म दृष्टि से सपन्न रहे हैं। उनकी दूरगामी आध्यात्मवादी दृष्टि ने ही ऐसे आगम रत्न को खोजकर जन-जन के लिए सुपाठ्य वनाया। हम आज भी उनकी सुधारवादी दृष्टि के आभारी हैं और युग-युग तक रहेंगे।

अतगड सूत्र अन्तरग परिचय

इतिहास हमारे लिए सवसे वडा आलोक स्तम्भ होता है। वह अनुभव और प्रेरणा का जीता-जागता ग्रन्थ है। उससे प्रकट होने वाली प्रकाश किरणें, अधकार मे भी हमें मार्गदर्शन कराती रहती हैं। भय, दुर्वलता, वासना, लालसा और भोगैषणाओ के अन्धकार मे इतिहास की वे दिव्य किरणें हमें अभय, आत्म-विजय और वीतरागता का पथ दिखाकर आध्यात्मिकता के शिखर तक पहुँचा देती हैं। इसलिए इतिहास का अपना महत्व है।

अतगड सूत्र एक ऐतिहासिक चरित्र-आगम है। इसमे भगवान नेमिनाथ एव भगवान महावीर के युग के ९० महान साधको का तपोमय जीवन वर्णित है। यह सयोग की वात ही देखिए कि पर्युषण के आठ दिन हैं, और अन्तगड सूत्र भी ग्यारह

अगो मे आठवा अग है, और इस अग आगम के आठ वर्ग—अध्याय हैं। अष्ट सिद्धि का यह सयोग भी अपने आप ही मिल गया है। आठ कर्मोका सम्पूर्ण नाश करने वाले महान नव्वे साधको का जीवन चरित्र इसमे है।

इस आगम का नाम अतगडदशा अर्थात्—अतकृत् दशा है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने कहा है—

अन्तो—भवान्त , कृतो—विहितो यैस्ते अन्तकृता'

—भव-ससार का अन्त जिन्होंने कर दिया, वे अन्तकृत कहलाते हैं। उन-अन्तकृतो—अर्थात् मोक्ष मे पधारे हुए सिद्ध आत्माओ का वर्णन इस आगम मे है। इसके आठ वर्ग हैं। प्रथम एव अतिम वर्ग मे दश-दश अध्ययन हैं, इसलिए इसे "अत-कृत-दशा" कहा जाता है।

इस आगम के प्रथम वर्ग से पाँचवें वर्ग तक मे भगवान नेमिनाथ के युग के साधको का वर्णन है।

प्रथम वर्ग मे दस,
द्वितीय वर्ग मे आठ
तृतीय वर्ग मे तेरह
चतुर्थ वर्ग मे दस
पचम वर्ग में दस—

यो कुल ५१ अध्ययन हैं। इनमे पहले चार वर्ग के ४१ अध्ययन मे उन राजकुमारो का वर्णन है जिन्होने श्रीकृष्ण वासुदेव की अपार साहिबी, वैभव और सुख-सुविधाओ-भरी जिन्दगी को त्याग कर कठोर सयम जीवन अपनाया। गौतमकुमार, गजसुकुमाल, जालि-मयाली, दृढनेमि आदि राजकुमारो ने भगवान अरिष्ट-नेमि के चरणो मे पहुँचकर सयम का असिधारा-पथ स्वीकार किया, विविध प्रकार के तपो का आराधन किया और अन्त मे केवलज्ञान प्राप्त कर परमपद मोक्ष की प्राप्ति की।

पाँचवें वर्ग के दस अध्ययन मे वासुदेव श्रीकृष्ण की पद्मावती सत्यभामा, रुक्मिणी, जाववन्ती आदि आठ रानियाँ तथा दो पुत्रवधुओं का वैराग्यमय वर्णन है। इन फूलो की शय्या मे सोने वाली राजमहिषियो ने कितनी कठोर और उग्र साधना का मार्ग अपनाया। उनके जीवन मे कितना बडा परिवर्तन आ गया, एक ओर राजमहिषी का सुख-वैभव और एक ओर कठोर साधना का मार्ग! नारी जितनी सुकुमार है उतनी ही तप-साधना मे सिंहनी की भाँति कठोर भी है—यह इन अध्ययनो की गाथाओ से ज्ञात होता है।

छठे अध्ययन से आठवें अध्ययन तक अर्थात् इन तीन अध्ययनो मे भगवान महावीर के शासनकाल के ३९ उग्र तपस्वी, क्षमामूर्ति और महान सरलात्मा साधु-साध्वियो के कठोर तपोमय जीवन की उज्ज्वल रेखाएँ हैं।

छठे वर्ग के सोलह
सातवें वर्ग के तेरह
आठवें वर्ग के दस

—यो कुल ३६ अध्ययन हैं। इन तीन वर्गों की विशेषता यह है कि छठे वर्ग मे जहां अतिमुक्तक, अर्जुनमाली, मेघकुमार जैसे क्षमा और समता के महान साधको का वर्णन है, वहां सातवें-आठवें वर्ग मे महाराज श्रेणिक की २३ रानियां—काली-महाकाली, नदा आदि की हृदय कँपाने वाली उग्र तपश्चर्याओ का सजीव चित्रण हुआ है।

इस प्रकार अतगड सूत्र के आठ वर्ग मे सचमुच ही आठ कर्म शत्रुओ से सघर्ष करने की अद्भुत प्रेरणा भरी हुई है।

इस सूत्र के मूल प्रवक्ता भगवान महावीर है। वाद मे सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी को इस अग सूत्र का अर्थ व रहस्य वताया।

तो, इस प्रकार पर्युषण पर्व के आठ मगलमय दिनो मे आगम के इन उदात्त चरित्रो का श्रवण कर हम अपने राग-द्वेष को शान्त करें, कपायो का उपशमन करें, मन को, सरल सहिष्णु और क्षमाशील वनाएं, तप-त्याग की भावना की वृद्धि करें और पल-पल तथा पद पद पर आत्मनिरीक्षण करते हुए जीवन को कृतार्थ करें। इसी भावना के साथ आगम वाचन की यह पुनीत परम्परा चल रही है।



द्वितीय खण्ड

प्रेरणाप्रद-प्रसंग

[पर्युषण पर्व पर पठनीय अंतगड सूत्र की
समत्व-प्रधान कथाएँ]

१
वैराग्यमूर्ति गौतमकुमार

धर्मप्रेमी श्रावक गण !

आप जानते ही हैं कि पर्युषण पर्व के पवित्र दिनो मे कल्पसूत्र एव अन्तकृत् दशा सूत्र का वाचन किया जाता है। इन सूत्रो के वाचन का मूल उद्देश्य यह है कि हम अपने आराध्य पुरुषो के पवित्र जीवन का श्रवण कर समय को सार्थक करें, तथा उनसे आत्म-कल्याण की प्रेरणा लें।

जब कोई बात हम सुनते हैं तो धीरे-धीरे हमारे मस्तिष्क पर, मन पर और हृदय पर उसका प्रभाव भी होता है। अगर अच्छी बात सुनते हैं तो मन मे अच्छे सस्कार जगेंगे, कोई बुरी बात सुनते हैं तो बुरे सस्कार जगेंगे। कहते हैं कि अभिमन्यु जब सुभद्रा के गर्भ मे था तब अर्जुन ने सुभद्रा को सेना के चक्रव्यूह मे प्रवेश कर उसके द्वार तोडने की युक्ति बताई थी। प्रवेश करने की युक्ति तो सुभद्रा ने ध्यानपूर्वक सुन ली, किन्तु व्यूह को तोडकर निकलने की युक्ति बताते समय सुभद्रा को नीद आ गई। गर्भस्थ अभिमन्यु ने चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की युक्ति उसी समय सीख ली। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तब वह गर्भकाल मे सुनी हुई उस युक्ति के अनुसार कौरव-सेना की व्यूह रचना मे प्रवेश कर शत्रु सेना का नाश करने लग गया। भीम आदि पाडव पीछे रह गये और भीतर मे अकेले बालक अभिमन्यु को द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा आदि बड़े-बड़े महारथियो ने घेर लिया। चूकि व्यूह रचना को तोडने की विधि उसे याद नहीं थी, जब अर्जुन ने सुभद्रा को वह विधि बताई तब उसे नीद आ गई थी इसलिए अभिमन्यु कौरवो के चक्रव्यूह को तोडकर निकल नही सका और छ महारथियो ने अन्यायपूर्वक उसे घेरकर मार डाला।

कहने का अभिप्राय यह है कि सुनने का इतना गहरा असर होता है। गर्भ मे सुनकर भी अभिमन्यु ने चक्रव्यूह मे प्रवेश करने की विद्या सीख ली। सुनते-सुनते कोई भी कथा, वार्ता, सस्कार बन जाती है। इसलिए प्राचीन ऋषियो ने कहा है—**भद्रं कर्णेभि शृणुयाम**—कानो से सदा अच्छी बात ही सुननी चाहिये।

पर्युषण के दिन हमारी आध्यात्मिक साधना के दिन हैं, समता और तितिक्षा भाव की वृद्धि करने के दिन हैं। तप-एव त्याग का आचरण करने के दिन हैं, इसलिए इन दिनो में विशेष रूप से ऐसी घटनाएँ, ऐसे चरित्र सुनने चाहिये जिनके श्रवण से

हमारे मन मे पवित्र सस्कार जगें। हमारी भावनाएँ शुद्ध एवं निर्मल बनें तथा तप-त्याग की आराधना मे अधिक आत्मबल दीप्त हो। इसी दृष्टि से पर्युषण मे जनसभा मे हम अतगड सूत्र का वाचन करते हैं।

मैंने आपको बताया है कि इस सूत्र मे नव्वे महान आत्माओ की जीवन-गाथाएँ हैं। इन महान् विभूतियो मे वृद्ध भी हैं, तरुण भी हैं, बालक भी हैं, पुरुष भी हैं, नारियाँ भी हैं। त्याग-तपस्या की ये जीती-जागती मशाले हैं। क्षमा, समता और सरलता की ये दिव्य ज्योतियाँ हैं। इनका पवित्र चरित्र सुनने से, उनका नाम सुनने-मात्र से मन के विकार और दुर्भाव यो नष्ट हो जाते हैं, जैसे—

तीव्रातपोपहत - पान्यजनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरस. सरसोऽनिलोऽपि।

—ग्रीष्मकाल की भयकर गर्मी और धूप से तपते हुये यात्री को पद्मसरोवर की ठंडी हवाएं लगने से उसका पसीना, थकावट और प्यास दूर हो जाती है उन शीतल हवाओ के स्पर्श मात्र से ही उसका हृदय कमल खिल जाता है, और थका हुआ चेहरा चमकने लगता है, उसी प्रकार इन महान आत्माओ के पवित्र चरित्र को सुनने मात्र से ही हृदय की उदासी, जडता, प्रमाद और क्रोधादिक विकार नष्ट हो जाते हैं।

तो अब मैं मूल सूत्र की बात पर आता हूं। इस सूत्र का प्रथम पाठ इस प्रकार है—

अंतगड सूत्र

तेणं कालेणं तेणं समएण चपा णामं णयरी होत्था। वण्णओ। तत्थणं चंपाए णयरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए एत्थ णं पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था।

—उस काल और उस समय मे चपा नामक नगरी थी। वह बड़ी दर्शनीय और मनोहर थी। औपपातिक सूत्र मे उसका वर्णन किया गया है, उससे जानना चाहिए।

उस चपानगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग में (ईशान कोण) मे पूर्णभद्र नाम का चैत्य—यक्ष का आयतन था। वहाँ एक अतिरमणीय वन खड—अनेक प्रकार के वृक्षो से सुशोभित उद्यान था।

अतगड सूत्र का यह आख्यान आर्य सुधर्मा ने अपने शिष्य जम्बू के समक्ष कहा है। इसलिए वे उस युग की बातो को आगे रखते हुए कहते हैं कि उस काल—अर्थात् जिस समय की यह बात सुनाई जा रही है, उस युग एव उस समय मे चंपा नामक नगरी थी। उस नगरी मे कोणिक राजा का राज्य था। और नगर के ईशान कोण मे पूर्ण भद्र नामक यक्ष का एक मदिर-चैत्य था।

कोणिक, महाराज श्रेणिक का पुत्र था। श्रेणिक की राजधानी राजगृह थी।

किन्तु उसकी मृत्यु के बाद परिस्थितियो के कारण राजगृह से कोणिक का मन उचट गया। पिता की मृत्यु के कारण वह उदास और बेचैन-सा रहने लगा। राजगृह नगर के महल और राजसभा देखकर वह बार-बार पिता की स्मृति में डूब जाता और उसके मन पर शोक का भार बढ जाता। राजगृह जैसी सुन्दर नगरी भी उसे अप्रिय और असुहावनी लगने लगी। तब कोणिक ने स्थान बदलने का निश्चय किया और दूसरे स्थान पर चपा नगरी बसाकर वही अपनी राजधानी बनाई।

यह चपा नगरी नई थी और मगध राज्य मे थी। यद्यपि इससे पहले भी चपा नगरी का वर्णन आता है, वह बहुत प्राचीन नगरी थी और वह अग देश की राजधानी थी। भगवान महावीर के समय मे वहाँ दधिवाहन राजा राज्य करता था।

कोणिक राजा ने चपा नाम की नई नगरी बसाई। वह बहुत सुन्दर और रमणीक थी। औपपातिक सूत्र मे चपा नगरी तथा कोणिक राजा आदि का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसकी सभी विशेषताओ का वर्णन करके बताया है कि एक सुन्दर नगरी तथा महान राजा की राजधानी बनने योग्य सभी बातें उस नगरी मे थी।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् जब सुधर्मा स्वामी भगवान के पट्ट पर विराजमान हुए तो अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ विहार करते हुए चपानगरी मे पधारे। आर्य जम्बू सुधर्मास्वामी के प्रमुख शिष्य थे। जैन परम्परा मे जम्बू जैसा वैरागी, अनासक्त योगी साधक एक महान आदर्श है। भरी जवानी मे आठ सुन्दर रमणियो के साथ रात को विवाह होता है, ९९ करोड का दहेज आता है, अपार ऐश्वर्य आँगन मे बिखरा पडा है, और परम वैरागी जम्बू प्रात काल ही आर्य सुधर्मा के चरणो मे पहुंचकर दीक्षा के लिए प्रार्थना करते है। उनके वैराग्य वचनो से प्रबुद्ध होकर नवयौवना सुन्दरियाँ, प्रभव जैसा प्रचड तस्कर पाँच सौ तस्करो के साथ और जम्बू एव सुन्दरियो के माता-पिता यो ५२७ व्यक्ति दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे तेजस्वी, प्रतिभाशाली और महान् वैरागी जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा के साथ विहार करते हुए चपा नगरी मे पधारते हैं।

जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा को विनयपूर्वक वन्दना करके पूछते है—

जइण भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेण जाव सपत्तेण सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते। अट्ठमस्स ण भते! अगस्स अंतगडदसाण समणेण जाव संपत्तेण के अट्ठे पण्णत्ते?

भते! श्रमण भगवान महावीर जोकि इस युग मे धर्मतीर्थ के प्रवर्तक (अपेक्षा से आदिकर्ता) थे। उन्होंने अपने कार्य सिद्ध कर निर्वाण प्राप्त किया, उन भगवान महावीर ने सातवें अग सूत्र—उवासगदशा का जो अर्थ व रहस्य बताया है, वह आपने मुझे बताया, अब कृपा कर आठवें अग सूत्र—अतकृत्दशा का अर्थ बताइए।

स्थविर सुधर्मा

आगम पाठ मे जहाँ सुधर्मा स्वामी का वर्णन किया है वहाँ उन्हे स्थविर शब्द

से पुकारा गया है—अज्ज सुहम्मे थेरे—आर्य सुधर्मा स्थविर। आर्य तो कहते हैं—श्रेष्ठ, कुलीन और सभ्य पुरुष को। किन्तु इसके साथ जो स्थविर विशेषण है वह बड़ा गम्भीर है। जैन परम्परा मे ही नही, किन्तु ससार मे सभी जगह 'स्थविर पद' बहुत सम्मानजनक रहा है। महाभारत मे तो यहाँ तक कहा है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा

वह सभा, सभा ही नही है, जहाँ वृद्ध नही हो। वृद्ध के बिना धर्मसभा और राजसभा दोनो ही बेकार हैं। वृद्ध अनुभवी और परिपक्व होता है। राजस्थानी में कहावत है—'नरां, नाहरां दिगम्बरां पाकां ही रस होय' फल जैसे पकने पर मीठा होता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान और अनुभव से परिपक्व होने पर रसदार और मूल्यवान हो जाता है। एक राजस्थानी पद्य में कहा गया है—

बसती वैद तपसेरी प्रोहित तदुल पान
ये नो जूना चाहिए राजा, शाह दीवान।

तो इन चीजो मे तपस्वरी, पुरोहित और दीवान—ये सलाहकार और धर्मनीति एव राजनीति के सचालक माने गये हैं। इनकी पद-पद पर जरूरत रहती है। युवक कहते हैं—बूढो की क्या जरूरत है, पर बूढो में जो अनुभव है, वह युवको मे कहाँ से आयेगा। युवको मे जोश होता है, वृद्धो मे होश होता है।

नन्दीसूत्र की टीका में एक कथा आती है। एक राजा के सामने कुछ नौजवान राजकर्मचारियो ने प्रार्थना की—महाराज! आप इन पके हुए केश वाले और जीर्ण शरीर वाले बूढ़ो को अपनी सभा से हटा दीजिए। इनमे कोई स्फूर्ति नहीं, कोई जोश नही है, ढीली माटी है। इनकी जगह नवयुवक अधिकारियों को रखिए, ताकि अपने राज्य की जल्दी से जल्दी उन्नति हो, विकास की गति तीव्र हो।

राजा अनुभवी था, उसने कहा—ठीक है। सोचेंगे।

कुछ दिन बाद राजसभा जुडी थी, एक ओर युवक कर्मचारी बैठे थे, एक ओर वृद्धजन। राजा ने प्रश्न किया—मेरे मुँह पर यदि कोई थप्पड मार दे तो उसे क्या दण्ड देना चाहिए?

युवको ने तत्काल जवाब दिया—महाराज! उसे तो तत्काल मृत्युदण्ड देना चाहिए। 'ऐसे अपराधी का तो एक घाव दो टूक। तलवार के एक ही प्रहार से समाप्त कर डालना चाहिए।

राजा ने वृद्धो की तरफ देखा, वे मौन और विचारमग्न थे। राजा के प्रश्न करने पर बोले—महाराज! हमारी समक्ष मे तो यही बात आती है कि आपके मुँह पर थप्पड मारने वाले को स्नेह और सम्मान देना चाहिए।

राजा ने युवको की तरफ देखा, वे भी आश्चर्य चकित थे। सोच रहे थे—इन बूढो की बुद्धि सठिया गई है। राजा ने फिर वृद्धो से पूछा—आपने ऐसा किसलिए कहा? अपराधी को सम्मान ···?

वृद्धो ने निवेदन किया—महाराज ! किसकी हिम्मत है जो आकर आपके थप्पड मारे ? महारानी के सिवाय आपके मुँह पर हाथ लगाने की किसी की हिम्मत ही नही है । महारानी ही आपके मुँह पर हाथ लगा सकती हैं, इसलिए हमने सोचकर यही तय किया है कि महारानी को थप्पड के उत्तर मे प्यार और सम्मान ही देना चाहिए ।

राजा सुनकर प्रसन्न हो गया और युवक अपनी अनुभव-हीनता पर नीचा सिर किये बैठे रहे ।

तो, राजनीति की तरह धर्मनीति की बात मे, शास्त्रो के रहस्य जानने मे वृद्ध या स्थविर ही अधिक समर्थ होते हैं । इसलिए ज्ञान की दृष्टि से उनका सदा सम्मान और आदर किया जाता है ।

जैन आचार्यों ने वृद्ध का अर्थ किया है—जिसका ज्ञानदर्शन, चारित्र, अनुभव आदि खूब परिवर्धित (वृद्ध—बढ़ा हुआ) हो गया है । ऐसे वृद्ध को स्थविर कहा गया है । स्थविर का सीधा-सा अर्थ है जो स्वय अपनी साधना मे स्थिर है, और दूसरो को स्थिर रखने मे समर्थ है । स्थविर तीन प्रकार के कहे गये है—१ **वय स्थविर**—जो साठ वर्ष के हो । २ **श्रुत स्थविर**—जो स्थानाग और समवायाग सूत्र के अर्थ और रहस्य के ज्ञाता हो ।

३. **दीक्षा स्थविर**—जिनकी २० वर्ष की दीक्षा पर्याय हो गई हो ।

आर्य सुधर्मा को स्थविर कहा गया है । वे तीनो ही दृष्टियो से स्थविर थे । ज्ञान के तो वे अक्षय-निधि थे । सम्पूर्ण द्वादशागी के रहस्यो को हृदयगम किया था । वे ही तो भगवान महावीर की वाणी के साक्षात् श्रोता और प्रवक्ता थे । तो उन सुधर्मा स्वामी के पास जम्बूस्वामी ने इस आठवें अग सूत्र अतकृत् दशा का अर्थ और रहस्य पूछा और तब स्थविर सुधर्मा ने बताया—

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव सपत्तेण अट्ठमस्स अगस्स अतगड दसाण अट्ठ वग्गा पण्णत्ता ।

—हे जम्बू ! श्रमण भगवान महावीर, जिन्होंने अपने सब कार्य सिद्ध कर लिये, उन्होंने आठवें अग के आठ वर्ग कहे है ।

इनमे प्रथम वर्ग के दस अध्ययन कहे हैं । अर्थात् इस प्रथम वर्ग मे दस महान आत्माओं का वर्णन है । उनके नाम इस प्रकार हैं—१ गौतम, २ समुद्र, ३ सगर, ४ गम्भीर, ५ स्थिमित, ६. अचल, ७ कपिल, ८ अक्षोभ, ९ प्रसेनजित, १० विष्णु ।

वैराग्यमूर्ति गौतमकुमार

जैसा कि मैंने पहले बताया है, अन्तकृतसूत्र के ८ वर्गों मे, पाँच वर्ग मे भगवान नेमिनाथ युग के ५१ साधको का वर्णन है, और तीन वर्गों मे भगवान

महावीर युग के ३६ साधको का वर्णन है। पहले वर्ग के दस अध्ययनो मे नेमियुग के दस साधको का वर्णन है।

हम जिस युग की कहानी सुना रहे हैं वह नेमिनाथ युग की है। वाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ इस धरती तल को पावन करते हुए भव्य जीवो को कल्याण मार्ग का उपदेश कर रहे थे और उनके चचेरे भाई[1] वासुदेव श्री कृष्ण द्वारिका नगरी मे तीन खड का राज्य कर रहे थे।

द्वारिका वर्णन

सूत्र मे द्वारिका नगरी का विस्तृत वर्णन करते हुए बताया है कि यह द्वारिका नगरी सौराष्ट्र देश की राजधानी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी थी। वह अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध थी। स्वय धनपति कुवेर ने इस नगरी की रचना मे अपना अद्भुत कौशल दिखाया था। उसका परकोटा सोने का था और उसके कगूरे पांच वर्ण के मूल्यवान रत्नो से जड़े हुए थे। वह हर प्रकार से सुन्दर और सुरम्य थी। अधिक वर्णन नही करके एक ही उपमा मे शास्त्रकार ने कह दिया है—

सुरम्मा अलकापुरी संकासा ..
पच्चक्खं देवलोग भूया पासाइया

उसकी सुरम्यता देखकर लगता था कि कुवेर की राजधानी अलकापुरी यही है। अलकापुरी के समान वह हर प्रकार से समृद्ध, स्वच्छ और दर्शनीय थी। दर्शक को ऐसा लगता था कि वह द्वारिका देख रहा है या देवलोक का दर्शन कर रहा है?

उस द्वारिका नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग मे रैवत पर्वत था। उस पर एक नन्दन वन था। उस नन्दन वन उद्यान मे सुरप्रिय नाम के यक्ष का यक्षायतन था। उसके मध्य मे एक विशाल अशोक वृक्ष था। भगवान नेमिनाथ जब कभी द्वारिका नगरी मे पधारते तो उस रैवताचल पर नन्दन वन मे अशोक वृक्ष के नीचे भगवान का समवसरण लगता।

उस द्वारिका नगरी मे यादवो का विशाल परिवार रहता था। जिनमे सबसे वृद्ध थे भगवान नेमिनाथ के पिता समुद्रविजय जी। वे दश भाई थे जो 'दशार्ह' कहलाते। उनके विशाल परिवार में हजारो वीर, योद्धा और धनुर्धर थे। वासुदेव श्री कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थी जिनमें रुक्मिणी और सत्यभामा प्रमुख थी। यादवो के इस विशाल परिवार के अलावा हजारो नागरिक भी वहाँ रहते थे। सभी बड़े आनन्द और सुखपूर्वक वासुदेव की आज्ञा का पालन करते थे।

द्वारिका नगरी मे अधकवृष्णि राजा थे। उनकी रानी का नाम था धारिणी।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि पिछले पाठ मे **कण्हे णाम वासुदेवे राया परिवसइ**—

---

१. भगवान नेमिनाथ समुद्रविजय जी के पुत्र थे, उनके छोटे भाई वसुदेव जी थे।

उल्लेख आया है, और यहाँ अधकवृष्णिराजा का। तो एक नगरी मे दो राजा कैसे थे ? और जब कृष्ण वासुदेव राजा थे तो अन्य राजा उसी नगर मे हो, यह कैसे सम्भव है ?

इस प्रश्न के समाधान मे लगता है, वासुदेव श्रीकृष्ण तो तीन खड के अधिपति थे ही, तीन खड मे उनकी अखड आज्ञा प्रवर्तित थी, किन्तु जैसे अन्य नगरो मे अधीनस्थ राजा अपने-अपने शासन का सचालन करते थे, वैसे ही यह सम्भव है कि कुल के वृद्ध एव अग्रपुरुष होने के नाते वासुदेव ने नगर-शासन का सचालन अधकवृष्णि के हाथो मे रखा हो, उनके सम्मान एव आदर की दृष्टि से उनको राजा पद पर आसीन कर रखा हो यह सम्भव है। इसी कारण द्वारिका नगरी के राजा अधक वृष्णि का उल्लेख आता है।

एकवार धारिणी रानी सुखपूर्वक अपने शयनागार मे सोई थी। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उसने एक शुभ स्वप्न देखा। उस शुभ स्वप्न को देखकर रानी जागृत हुई और उठकर राजा अधकवृष्णि के पास आई। रानी ने अपना स्वप्न बताया तो राजा ने प्रसन्न होकर कहा—देवी ! तुम किसी भाग्यशाली पुत्र की माता बनोगी !

रानी आनन्द के साथ विधिपूर्वक गर्भ की प्रतिपालना करती रही। योग्य समय पर एक सुन्दर बालक का जन्म हुआ। नगर भर मे खूब उत्सव मनाया गया। बालक का नाम रखा गया—गौतम कुमार !

विद्याध्ययन के बाद गौतम युवा हुआ।

जोवण पाणिग्गहणं कंता पासाय भोगाय

यौवन मे प्रवेश करने पर आठ राज कन्याओ के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। सुन्दर रम्य भवनो मे गौतम सासारिक सुख भोगने लगा।

भगवान अरिष्टनेमि का आगमन

ससार मे पूर्व पुण्यो से मनुष्य को भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु भोग सामग्री प्राप्त कर कुछ मनुष्य उसमे उलझ जाते हैं, और कुछ भोग मे भी जागृत और अलिप्त जैसे रहते हैं।

सासारिक सुखो की मधुरता को दो तरह की उपमाएँ दी गई हैं—एक माधुर्य है—शहद के जैसा। शहद मीठा होता है, मक्खी उस मधुरता को लेने आती है, उसकी मिठास तो लेती है, किन्तु उसी मे पख आदि लिपट जाने से वह उस शहद पर से उड नही सकती। शहद की मिठास लेते-लेते वह शहद मे ही लिपट जाती है, और अन्त में उड नही पाती। उसी मे पख फडफडाकर रह जाती है और मृत्यु के मुख मे चली जाती है।

दूसरी मिठास है मिश्री की। मिश्री पर मिठास लेने जो मक्खी बैठती है, वह

मिठास लेकर भी स्वतन्त्र रहती है, जितनी देर मन हुआ, मिठास लेती रही, जब मन हुआ उड गई अथवा जब आपत्ति आती दीखी तो झट से भाग गई।

शहद पर बैठने वाली मक्खी मिठास मे फँस कर परतन्त्र बन जाती है और मिश्री पर बैठने वाली मक्खी मिठास लेकर भी स्वतन्त्र रहती है। ससार मे सुख भोगने वाले मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—जिनके अन्दर मे ज्ञान है, आत्म चेतना जागृत है, वे मिश्री की मक्खी की तरह सासारिक सुखो का भोग करते हुए भी आजाद रहते है, जब भी मन मे थोडी-सी विरक्ति जगी, झट से उन भोगो का त्याग करके उनसे मुक्त भी हो जाते हैं। वे फूलो का रस पीने वाले भ्रमर हैं। जब तक मन हुआ रस पीया, जब विरक्ति हुई उड गये। किन्तु जो अज्ञानी, मोह ग्रस्त और विषयानदी व्यक्ति होते हैं वे शहद की मक्खी की भाँति विषयो मे फँस जाते हैं। भोगो मे परतन्त्र होकर उनकी कैद मे बन्दी बन जाते हैं। कीचड मे फँसे गजराज की भाँति वे खूब चाहकर भी उस भोगो के कीचड़ से निकल नहीं पाते—

"नागो जहा पंक जलावसण्णो,
दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं[1]

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त मुनि चित्त से कहता है, हे मुनिवर! जैसे कीचड मे फँसा हुआ हाथी सामने किनारा या सूखी भूमि देखकर निकलना चाहता हुआ भी निकल नहीं पाता, वही दशा ससार मे मेरी हो रही है, कहने को चक्रवर्ती हूँ, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हूँ, लेकिन आत्मा से बिलकुल परतन्त्र हो रहा हूँ, इन भोगो को बुरा समझते हुए भी छोड नही पा रहा हूँ। तो यह दशा है भोगी मनुष्य की।

गौतमकुमार ससार के रमणीय भोगो मे लीन था, पर आसक्त नही था। उसकी आत्मा भीतर मे जागृत थी। हृदय के भीतर ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित थी। विष खा रहा था, पर विष को विष मानकर छोडने की भी तैयारी मे था। बस, तभी एक प्रेरक प्रसग मिल गया, और वह प्रबुद्ध हो गया।

उस समय मे जनपद मे विहार करते हुए अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी मे पधारे। रैवतगिरि के नन्दनवन मे भगवान का समवसरण लगा। द्वारिका नगरी के नागरिक भगवान को वन्दना करने एव उनका उपदेश सुनने के लिए बड़े उत्साह और भक्तिभाव के साथ रैवतगिरि पर पहुँचे। गौतमकुमार, जो अब तक भोगो की सुख-सरिता मे डूबा हुआ था, उसने भी देखा, आज सभी नागरिक रैवतगिरि की ओर बढ़े जा रहे हैं, क्या कोई उत्सव है, नाटक आदि है? जब पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि भगवान अरिष्टनेमि अपने विशाल शिष्य परिवार के साथ रैवताचल पर पधारे हैं तो सहसा उसके हृदय मे बिजली-सी कौंध गई। एकदम प्रकाश छा गया। अपने

1 उत्तरा० १४।३०

सभी कार्यों को छोडकर गौतमकुमार सीधा भगवान के समवसरण मे पहुँचा, वन्दना की और धर्म परिषद मे बैठकर प्रवचन सुनने लगा।

गौतमकुमार सच्चा श्रोता था। उसकी बुद्धि की खिडकिया खुली थी और जिज्ञासा का पैदा होना भी ठीक था,भगवान की वाणी सीधी उसके हृदय मे उतरी, और वही ठहर गई। कुछ श्रोता, वास्तव में श्रोता नही, सिर्फ भीड बन कर आते हैं। बुद्धि की खिडकी बन्द रखते हैं। ज्ञान की चाहे जितनी वर्षा हो, उनके हृदय मे एक बूंद भी नही जा सकती, भाग्य से कुछ बूंदें चली गईं तो जिज्ञासा का पैदा नही होता, फूटे घड़े की तरह सभी पानी बह जाता है, और श्रोता रीते सूखे ही रह जाते हैं तो गौतम ऐसा श्रोता नही था। वह मिट्टी की भाँति ज्ञान की वर्षा को हृदय मे जज्ब करता रहा और वैराग्य के अकुर प्रस्फुटित हो उठे। उसकी विवेक दृष्टि जाग उठी। जब विवेक जागृत हो जाता है तो दृष्टि बदल जाती है, दृष्टि बदल जाती है तो अनुभूति भी बदल जाती है। गौतमकुमार जिस ससार को अब तक सुखमय समझ रहा था, वह उसे अब दुखमय लगने लगा,जो अब तक अपने को स्वतत्र समझ रहा था, वही स्वय को बन्धनो मे जकडा हुआ अनुभव करने लगा। उसे ससार दु ख और बन्धनमय प्रतीत होने लगा, और सुख सच्चा सुख, जिसका वर्णन प्रभु ने अभी-अभी किया था वह पाने के लिए विकल हो उठा। बस, फिर क्या देर थी। स्वाभिमानी और स्वतन्त्र व्यक्ति अधिक देर तक अस-मजस मे नही रहता। वह शीघ्र ही निर्णय कर लेता है, और निर्णय पर तुरन्त आचरण करने पर उतारू हो जाता है। प्रवचन समाप्त होने के बाद गौतमकुमार उठा, भगवान के समीप आया, और निवेदन करने लगा—प्रभो! आपका प्रवचन बहुत ही सुन्दर है, यथार्थ है, मेरे मन के कण-कण मे रम गया है, जैसे वर्षा का पानी माटी के कण-कण में रम जाता है। मैं अब आपकी शिक्षाओ पर आचरण करना चाहता हूँ, इस ससार की मोह-माया को त्याग कर साधु बन जाना चाहता हू—

अम्मापियरो आपुच्छामि, देवाणुप्पियाणं अतिए पव्वयामि

—मैं अपने माता-पिता से पूछकर आपके पास सयम की साधना करना चाहता हूँ।

गौतमकुमार की प्रार्थना पर भगवान ने सक्षिप्त-सा उत्तर दिया—**अहा सुह देवाणुप्पिया** —हे देवानुप्रिय! जैसा सुख हो वैसा करो, **मा पडिबध करेह**! विलम्ब मत करो!

प्रभु के इस उत्तर मे बहुत बडा रहस्य है। जैनधर्म स्वय प्रेरित धर्म है, मनुष्य की बुद्धि को जगा देना, विवेक जागृत कर देना—इतना ही इसका लक्ष्य है, किसी को बलपूर्वक आचरण करने के लिए यह बाध्य नही करता। इच्छापूर्वक जब मनुष्य कोई आचरण करता है तो उसमे दैवी बल होता है, आत्मिक बल होता है। अगर जबर्दस्ती भय, प्रलोभन आदि से कुछ करवाया जाता है तो उसमे पाशविक या राक्षसी बल आ जाता है। अनिच्छापूर्वक किया गया तप भी यहाँ बाल तप कहा जाता है। इसलिए

प्रत्येक तीर्थंकरो ने अपनी वाणी मे यही उद्घोष किया है—जहा सुहं जैसा तुम्हें सुख हो, जिसमे तुम्हारी भावना हो, जो कार्य तुम्हे सच्चे विवेक के साथ करने मे रुचि हो, वही करो। हां, एक बात का ध्यान रखो, सिर्फ पढ़े-पढ़े मनसूबे मत बांधो, जो ठीक समझा है, जिसे हितकर, सुखकर माना है, वह कार्य करने मे अगल-बगल मत देखो, तुरन्त कर लो! शुभस्य शीघ्रं-शुभ कार्य करने मे देरी करना, आलसी और दीर्घसूत्री लोगों का काम है, वीर और साहसी व्यक्ति शुभ काम करने मे सबसे आगे रहते हैं। यही ध्वनि भगवान की वाणी मे गूंज रही है—मा पडिबंध करेह। पड़े-पड़े मन सुस्ताओ! शुभ काम मे मुहूर्त मत देखो, जिस दिन सच्ची भावना जग गई वही सबसे बडा मुहूर्त है, बस चल पडो अपने लक्ष्य की तरफ।

प्रभु से स्वीकृति पाकर गौतमकुमार ने अपनी माता धारिणी और पिता अधक-वृष्णि से दीक्षा की अनुमति मांगी। माता-पिता ने पुत्र को ससार में रखने के अनेक उपाय किये, अनेक प्रलोभन दिये। पर, जिसके मन मे सच्चा वैराग्य जग गया है। वह कभी वापस भोगो की ओर नहीं मुड सकता। गौतमकुमार भी अपने निश्चय मे दृढ रहा। आखिर माता-पिता ने अनुमति दी, उसका दीक्षा महोत्सव किया। जैसा ज्ञातासूत्र मे मेघकुमार के दीक्षा महोत्सव का वर्णन है, उसी प्रकार गौतम कुमार का भी दीक्षा महोत्सव मनाया गया और खूब धूमधाम से वह वैरागी गौतम कुमार भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण मे पहुंचा। माता-पिता ने भगवान से प्रार्थना की—भते! हमारा यह पुत्र हमे अत्यन्त प्यारा है, आंखो का तारा है, यह संसार से विरक्त हो गया है, आपके चरणो मे अनुरक्त है, आप इसे ससार दावानल से निकाल कर संयम की शान्ति प्रदान कीजिए! हम आपको शिष्य-भिक्षा दे रहे हैं।

भगवान ने गौतम कुमार को साधु जीवन की कठोरचर्या बताई और अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह (ब्रह्मचर्य इसी मे सम्मिलित था) रूप चातुर्याम धर्म की दीक्षा दी। गौतम कुमार अब गौतम मुनि बन गये। इर्यासमिति आदि आठ प्रवचन माता की आराधना मे दत्तचित्त हो गये। अर्हत् अरिष्टनेमि के स्थविर मुनियो की सेवा मे रहकर सामायिक सूत्र (आवश्यक सूत्र) आदि ११ अगो का अध्ययन करने मे जुट गये। विद्या विनय से आती है, इसलिए मुनि गौतम कुमार स्थविरो की सेवा-विनय एव भक्ति में सदा तत्पर रहते। विद्या के साथ वे तप मे भी पीछे नही रहे। इसलिए आगम में कहा है—अहिज्जइ···· अहिज्जित्ता·· ···संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ · "अग शास्त्रो का अध्ययन किया, अध्ययन करके सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करने लगा।

ज्ञान और तप की आराधना

गौतम मुनि के चरित्र मे यह बात जो कही गई है, वह जैन शासन की रीढ है। ज्ञान और तप-जीवन में दोनो ही परम आवश्यक है। ज्ञान रहित तप बालतप माना गया है। बालतप मे काया-कष्ट तो अधिक होता है किन्तु कर्म निर्जरा कम!

बाल तपस्वी तामली तापस जैसो का वर्णन सूत्रो मे आया है, वहाँ बताया गया है कि हजारो वर्ष का घोर तप करने पर भी उनकी आत्मशुद्धि उतनी नही हुई, जितनी ज्ञान-पूर्वक कुछ घडी का तप करने वाले साधको की। अज्ञानी करोड़ो वर्ष की तपस्या मे जितने कर्म खपाता है, ज्ञानी उतने कर्म अथवा उससे भी अधिक कर्म श्वासोच्छ्वास मात्र काल में ही खपा सकता है।

ज अण्णाणी कम्मं, खवेइ भव सम सहस्स कोडीहिं।
तं नाणी तिहिंगुत्तो, खवेइ उस्सास मेत्तेण॥

इससे यह बात साफ हो जाती है कि ज्ञानपूर्वक किये गये तप का महान फल है, उसकी क्वालिटी सर्वोत्तम है, अज्ञान तप अधकार मे चलने जैसा है।

इसलिए जहाँ भी साधको का वर्णन आता है वहाँ यह ध्यान देने की बात है कि वे पहले सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन करते हैं और फिर तपश्चरण मे जुटते हैं। क्या मेघकुमार, क्या धन्ना अणगार। सभी महान साधक—ज्ञान प्राप्त कर फिर तप करते हैं। वे तप का उद्देश्य समक्ष लेते हैं कि तप शरीर का नाश करने के लिए नहीं, किन्तु आत्मा की शुद्धि के लिए है। यदि यह विमल विवेक नहीं रहा, देखादेखी तप करने लगे तो न तो तप ही सधेगा और न लक्ष्य ही प्राप्त होगा बल्कि—

देखादेखी साधै जोग
छीजे काया बाढ़े रोग।

शरीर तो छीज जायेगा, पर आत्म-समाधि प्राप्त नहीं होगी। आत्म-समाधि और आत्म-शुद्धि के लिए ज्ञान परम आवश्यक है। इसलिए ही गौतम मुनि पहले अध्ययन करते हैं, फिर चतुर्थ भक्त आदि विविध प्रकार के तप की आराधना करते हैं।

विशेष तपाराधना

भगवान अरिष्टनेमि कुछ समय वाद द्वारिका नगरी से विहार करते हैं, तब गौतम अणगार भी भगवान के साथ-साथ विहार करते हैं। ससार से, परिवार से जब ममता का वन्धन छूट गया तो फिर उसके लिए कोई भी अपना नगर नही, और कोई भी पराया नही। साधक, एक घर को छोडकर सारे ससार का हो जाता है सबको ही वह आत्म तुल्य समझता है, इसलिए उसके लिए न अपना नगर प्रिय है, न अन्य नगर अप्रिय, बल्कि समूचा भूमण्डल ही उसकी तपोभूमि और मातृभूमि जैसा है।

गौतम अणगार बहुत समय तक भगवान के साथ विहार करते रहे। गुरुजनो की सेवा, विनय, ज्ञानाराधना एव तपश्चर्या करते-करते एक वार उनके मन मे एक महान सकल्प उठा। सकल्प करने मे व्यक्ति स्वतन्त्र है, किन्तु उसे पूरा करने के लिए गुरुजनो की अनुमति-स्वीकृति भी आवश्यक है। इससे एक बडा लाभ यह है कि अगर उस सकल्प की पूर्ति मे कही कोई विघ्न, या भटकाव आने वाला हो तो ज्ञानी गुरु शिष्य

को सावधान कर सकते हैं। संकल्प के पीछे अगर कोई अन्य विचार या विकल्प छिपा हो तो उसे भी गुरु शुद्ध कर सकता है। साधना मे गुरु का मार्ग दर्शन और आशीर्वाद बहुत ही सहायक होता है, उससे हमारा आत्म-बल बढ़ता है, और सकल्प मे वज्र शक्ति आ जाती है। इसलिए आप देखेंगे, शिष्य जब भी कोई कठोर तपश्चरण या साधना करने को प्रवृत्त होता है तो वह पहले गुरुजनों के चरणों मे आकर अपनी भावना व्यक्त करता है और फिर उनका आशीर्वाद लेकर आगे बढता है। सूत्र में कहा है—

तए णं से गोयमे अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमि तिक्खुत्तो आयाहिं पयाहिं करेइ ··

तब, जब मन मे सकल्प उठा, वह गौतम अणगार एक बार भगवान अरिष्टनेमी जहाँ विराजमान थे, वहाँ उनके चरणो मे पहुँचे। विनयपूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना की और वन्दना करके भगवान से निवेदन करने लगे—

इच्छामिणं भन्ते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेत्तए।

भगवन्! यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो तो मैं मासिक भिक्षु प्रतिमाओ की साधना करना चाहता हूँ।

भिक्षु प्रतिमाओ का वर्णन भगवतीसूत्र मे किया गया है जहाँ स्कन्धक मुनि बारह भिक्षु प्रतिमाओं की साधना-आराधना करते हैं। यह तपस्या बडी ही कठोर और एकनिष्ठ दृढ अध्यवसाय की साधना है। आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध ७) मे भी भिक्षु प्रतिमाओ का वर्णन आता है वहाँ बताया है,

—भिक्खु पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति · ते उप्पण्णे सम्म सहति खमति तितिक्खति अहियासेति।[1]

—भिक्षु-प्रतिमा धारण करने वाला अणगार शरीर की ममता से मुक्त होता है। शरीर को जैसे त्याग दिया हो, वोसरा दिया हो, इस प्रकार की अनासक्तवृत्ति वाला, देह मे विदेह भाव से जीने वाला होता है, वह महान धैर्यशाली तथा सत्वशाली होता है। भिक्षु प्रतिमा प्रारम्भ करते समय ही वह प्रतिज्ञा करता है, जो कोई देव सम्बन्धी मनुष्य सम्बन्धी, तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग उत्पन्न होंगे उन्हें मैं समभावपूर्वक, पूर्ण तितिक्षा और धैर्य के साथ सहन करूँगा, दैन्य भाव से दूर रहकर उन्हें अच्छी तरह झेलूँगा।"[2]

यह कठोर-प्रतिज्ञा वही सत्वशाली वीर साधक कर सकता है, जिसने देह की

---

१ आयारदशा, ७ सूत्र ३।

२ १२ भिक्षु प्रतिमाओ का वर्णन परिशिष्ट २ में देखें।

सम्पूर्ण ममता त्याग दी हो। इन बारह प्रतिमाओ की साधना करना सचमुच खाडे की धार है। दीर्घकाल तक एक जैसी उत्कट भाव श्रेणी पर बढते रहना महान-धीर-वीर तपस्वी और इच्छाओ का पूर्ण दमन करने वाले साधक के लिए ही समव है।

तो गौतम अणगार भगवान अरिष्टनेमि से अनुमति प्राप्त करने की प्रार्थना करता है, सर्वज्ञ प्रभु ने उसकी अडिगनिष्ठा और धीरता-वीरता देखकर आज्ञा प्रदान कर दी। गौतम अणगार जुट गये इस कठोर साधना मे। कुल २८ मास और २३ दिन मे इस प्रतिमा-साधना को पूर्ण कर वे अपने सकल्प मे सफल हुए।

गुणरत्न संवत्सरतप

यद्यपि गौतम कुमार शरीर से बडे ही सुकुमार थे, पर उनका मन उतना ही कठोर था। महान आत्माओ की यही तो विशेषता होती है, तन फूल-सा कोमल और मन वज्र-सा कठोर। तन की सुकुमारता देखकर लोग सोचते हैं, यह इतना सुकुमार व्यक्ति कैसे इस खाडे की धार पर चल सकेगा, पर जब उसे सफलतापूर्वक खाडे की धार पर चलता देखते हैं, मोम के दांतो से लोहे के चने चबाते देखते हैं, तो दग रह जाते हैं। गौतम अणगार के विषय मे भी ऐसा ही था। भिक्षुप्रतिमा की आराधना से उनका शरीर और भी दुर्बल हो गया, पर आत्मबल पहले ही अधिक तेज हो गया। मेहदी जितनी पीसी जाती है, उतना ही रग लाती है, साधक जितना तप तपता है, उतना ही उसका बल प्रदीप्त होता है। यह स्वाभाविक बात है कि व्यक्ति जैसे-जैसे अपने कार्य मे सफल होता जाता है, वैसे-वैसे उसका उत्साह बढता है। गेंद जितने वेग से जमीन पर गिरती है, उतने ही वेग से ऊँची उछलती है। साधक भी अपनी साधना मे जितनी गहरी सफलता प्राप्त करता है, उतनी ही अधिक शक्ति से पुन उग्र से उग्र तप करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है।

गौतम अणगार बारह भिक्षु प्रतिमाओ की सफल साधना करके अब गुणरत्न सवत्सर तप की आराधना मे जुट गये।[1] इस कठोर और दीर्घकालिक तप के द्वारा गौतम अणगार का शरीर एकदम क्षीण हो गया। मास और रक्त सूख गया। शरीर मात्र हड्डियो का ढांचा-सा रह गया। उठते-बैठते भी, जबान हिलाने पर भी उनको कष्ट अनुभव होने लगा। आश्चर्य की बात है, शरीर इतना क्षीण और दुर्बल होने पर भी उनका आत्मबल उद्दीप्त हो रहा था। आत्मा मे शक्ति का अनन्त स्रोत प्रकट हो रहा था। सकल्पो मे अद्भुत चमत्कारी शक्ति और दमकने लगी, आगम की भाषा मे—

हुयासणे इव भासरासी पलिच्छण्णे तवेणं तेएणं तव तेयसिरीए उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ।

जैसे राख के नीचे दबी हुई अग्नि दमकती हुई अपनी उष्णता व प्रकाश फैलाती है, उसी प्रकार गौतम अणगार तप के तेज से दीप्त हुए शोभित हो रहे थे। यही वर्णन

---

१ गुणरत्न तप का वर्णन परिशिष्ट २ मे देखें।

भगवती सूत्र मे स्कन्दक अणगार व औपपातिक सूत्र में महातपस्वी धन्य अणगार का किया गया है। उनके जैसी स्थिति ही गौतम अणगार की हो गई।

शरीर की ऐसी स्थिति देखकर गौतम अणगार के मन मे विचार उठा, अब मेरे शरीर की अन्तिम घडी नजदीक दीख रही है। देह और देही (जीव) का वियोग अब निकट दीख रहा है। मौत आ रही है, तो मैं कायर की भांति पडा-पडा नहीं रहूँ, वीर की भाँति उसका स्वागत करूँ? जीवन की अन्तिम स्थिति-मृत्यु ही सम्पूर्ण साधना की कसौटी है। जीवन भर समाधि से बीता, आनन्द से बीता, अगर मृत्यु के समय मन कमजोर हो गया, दीन हो गया, मौत के डर से काप गया तो सम्पूर्ण साधना व्यर्थ हो जाती है, समाधिपूर्वक मृत्यु ही तो जीवन का कलश है, सलेखना और संथारा—यह सम्पूर्ण जीवन की साधना का सार है। इसलिए अब मुझे मृत्यु से सघर्ष के लिए उद्यत होकर पूर्ण समाधि के साथ् प्राण त्यागने चाहिये। प्राण तो छूटने वाले हैं ही, किन्तु उस समय मे पूर्ण प्रसन्नता और कृतकृत्यता का अनुभव करूँ।"

गौतम अणगार यह विचार कर भगवान अरिष्टनेमि के पास आये। शरीर से अत्यन्त दुर्बल थे, क्षीण थे। शरीर में कोई शक्ति शेष न रही थी, सिर्फ **जीवं जीवेण चिट्ठइ**—जीव अपनी जीवनी शक्ति के सहारे ही टिका हुआ था, फिर भी भगवान को वन्दना करके अपने मनोभाव प्रकट किये। नश्वर शरीर को सलेखना सथारा करके त्यागने की भावना व्यक्त की।

भगवान का तो इच्छायोग था, शुभकार्य मे जिसकी भावना बढ रही हो, वे उसे प्रोत्साहित कर यही कहते—**जहा सुह देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह**—हे देवानुप्रिय! जैसा सुख हो वैसा करो, विलम्ब मत करो। बस, भगवान की अनुमति मिली और गौतम अणगार

—थेरेहिं सद्धि सत्तुंजय दुरुहइ, मासियाए सलेहणाए बारसवरिसाइं परियाए जाव सिद्धे।

स्थविर मुनियो के साथ शत्रुंजय पर गये। वहाँ एक बड़े शिलापट्ट (शिला) पर आसन लगाया। आलोचना आदि करके आत्मा को पूर्ण नि शल्य एव निर्मल बनाकर परमात्म-भाव मे लीन होकर सथारा किया। यावज्जीवनपर्यन्त चारो आहार का त्यागकर-**कालं अणवकंखमाणे**—काल-मृत्यु की इच्छा नही करते हुए पूर्ण समाधि के साथ आत्म-भाव मे स्थिर हो गये।

अन्तिम समय मे साधक जब सथारा कर लेता है तो उसके सामने मृत्यु तो निश्चित है ही, किन्तु फिर भी वह मृत्यु की भी इच्छा नही करता। न जीने की कामना और न मृत्यु की कामना। सब कामनाओ के बन्धन से मुक्त होकर आत्म-स्वरूप में लीन हो जाता है। बस, यही तो मुक्ति की साधना है। अणगार गौतम ने सथारा किया और ३० दिन मे समाधिपूर्ण अनशन के साथ घनघातिकर्मों का क्षय कर केवल

ज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया और फिर आयुष्य आदि चारो कर्मों को क्षीण कर—**सिद्धे बुद्धे अंत करे**— सिद्ध हो गये । ज्ञानमय बन गये । जन्म-मरण का, ससार-चक्र का अन्तकर मुक्त हो गये । बारह वर्ष पूर्व सयम के जिस असिधारा व्रत को स्वीकार किया था वह व्रत, वह सकल्प पूर्ण हुआ ।

गौतमकुमार अणगार का यह प्रथम अध्ययन है । वह ससार का अन्त करके मुक्त हुए इसलिए अतकृत् सूत्र के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन मे उनका वर्णन है ।

गौतम अणगार का यह जीवन हमे त्याग, तप, दैहिक अनासक्ति और वीतराग भाव की प्रेरणा देता है । पर्युषण मे इस चरित्र को सुनने और सुनाने का प्रमुख लक्ष्य यही है कि ये प्रेरणाएँ हमारे हृदय मे उतरे और हम भी अपने उन आदर्श पुरुषो का अनुगमन करने का साहस और धैर्य प्राप्त करें ।

पढम अज्झयण सम्मत्तं ।

यह प्रथम अध्ययन पूर्ण हुआ ।



२

समुद्रकुमार आदि विशिष्ट साधक

बन्धुओ,

अन्तगड सूत्र के प्रथम अध्ययन मे गौतमकुमार का वर्णन किया गया है। वह वर्णन काफी विस्तृत है। फिर भी शास्त्रकार ने जहाँ-जहाँ सक्षेप किया वहाँ-वहाँ महाबल कुमार, स्कन्दक एव मेघकुमार के वैभव, तपःसाधना एव दीक्षा महोत्सव के वर्णनों की सूचना मात्र दे दी है। इनका वर्णन भगवती सूत्र एव ज्ञातासूत्र मे आता है।

अन्तगड सूत्र के प्रथम वर्ग के और भी नौ अध्ययन हैं। जिनका वर्णन गौतम कुमार के समान ही है। ये सभी सहोदर बधु थे।

द्वितीय अध्ययन मे समुद्र कुमार, तीसरे अध्ययन में सागर कुमार, चौथे अध्ययन मे गम्भीर कुमार, पाँचवें मे स्तिमित कुमार, छठे अध्ययन मे अचल कुमार, सातवें अध्ययन मे कम्पिल कुमार, आठवें मे अक्षोभ कुमार नवें मे प्रसेनजित कुमार और दसवें मे विष्णु कुमार का वर्णन है।

इन सबके पिता थे अधकवृष्णि और माता थी—धारिणी। ये सभी भाई गौतम कुमार की भाँति ही ससार से विरक्त होकर भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हुए और उग्र तप साधना करके अन्त मे मोक्ष गति प्राप्त की।

प्रथम वर्ग के दश अध्ययन समाप्त

☆

३

आठ भाइयों की अद्भुत साधना

धर्मप्रेमी बधुओ,

अन्तगड सूत्र के प्रथम वर्ग के दश अध्ययन का वर्णन आपके समक्ष किया जा चुका है। अब दूसरा वर्ग आपके सामने है। इस वर्ग मे आठ सहोदर भाईयो की साधना का वर्णन है।

जिस समय भगवान अरिष्टनेमि इस पुण्यधरा पर विचर रहे थे उन दिनो द्वारिका नगरी मे अधकवृष्णि राजा थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था। उनके अठारह पुत्र थे।[1] दस पुत्रों का वर्णन पहले वर्ग में किया जा चुका है। आठ पुत्रो की तप-साधना का वर्णन द्वितीय वर्ग मे है। इस वर्ग के आठ अध्ययन हैं। सभी भाइयो की साधना और जीवनचर्या का वर्णन भी समान है। सभी ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया, फिर गुणरत्न सवत्सर तप की आराधना की। सोलह वर्ष तक निर्दोष सयम की पालना की। अन्त मे शत्रुजय पर्वत पर जाकर मासिक सलेखना करके समाधिपूर्वक देहत्याग कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इन आठ भाइयो के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—१ अक्षोभ कुमार, २ सागर, ३ समुद्र, ४ हिमवान्, ५ अचल, ६ धरण, ७ पूरण और ८ अभिचन्द कुमार।

अतगड सूत्र वर्ग २ अध्ययन १ से ८ समाप्त

---

१ गौतमादिक कुवर सगा अठारह भ्रात।
सहु अधक वृष्णिसुत धारिणी ज्यारी मात। ५५।
—पूज्य जयमल्ल जी कृत बडी साधु व

४

अणीयसेन आदि छह सहोदर अणगार

सुश्रावको !

पर्युषण पर्व का सुन्दर आध्यात्मिक कार्यक्रम चल रहा है और आपके सामने वैराग्य एव तप की अखण्ड ज्योति जलाने वाले शास्त्रो का वाचन भी चल रहा है। इसी क्रम मे अन्तगड सूत्र के प्रथम एव द्वितीय वर्ग का वाचन किया जा चुका है, अब तृतीय वर्ग का कथा-प्रसग सुनिए।

वास्तव में यह अणीकसेन तथा आगे बताये जाने वाले अनन्तसेन आदि सुलसा के आत्म-जात (गर्भोत्पन्न) पुत्र नही थे, किन्तु पालित पुत्र थे। शास्त्र मे—

सुलसाए भारियाए अत्तए अणीयसेणे णाम कुमारे होत्था—कहा है, वह सुलसा की दृष्टि से कहा है। नाग गाथापति एव सुलसा, उन्हें अपने अगजात या आत्मज ही मानती थी, और लोक मे भी सर्वत्र यही प्रसिद्ध था। छहो कुमार भी अपने को सुलसा के आत्मज ही मानते थे। किन्तु यह एक रहस्य था। एक गोपनीय घटना थी जिसका किसी साधारण मानव को पता नही था। ज्ञानी पुरुष ही यह रहस्य जानते थे। इसका उद्घाटन तब होता है जब देवकी भगवान अरिष्टनेमि की सभा मे जाकर प्रश्न पूछती है, और अयवता मुनि की वाणी असत्य कैसे हो गई यह शका उठाती है। वह घटना-प्रसग आगे आठवें अध्ययन मे (पेज ९२) आता है, जो वही आपको बताया जायेगा। यहाँ अभी अणीकसेन का प्रसग ही बताना इष्ट है।

जिन दिनो बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि अथवा नेमिनाथ अपनी अमृत मयी वाणी का पीयूषवर्षण कर रहे थे—ससार को अधकार से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमरत्व की ओर बढने का मार्ग दिखा रहे थे, उन्ही दिनो उत्तम नगरो के सभी गुणों से परिपूर्ण श्री सम्पन्न, अत्यन्त शोभाशाली भद्दिलपुर नामक नगर था। इस नगर का राजा जितशत्रु बडा ही धर्मनिष्ठ और प्रजावत्सल था।

भद्दिलपुर नगर में नाग नाम का एक गाथापति रहता था। गाथापति नाग धन-धान्य से सम्पन्न और समृद्ध था कोई भी उसका पराभव अथवा अपमान नही कर सकता था। ऐसे अपरिभूत गाथापति नाग की धर्मपत्नी सुलसा अत्यन्त रूपवती व सुकुमारी थी।[1] रूपवती होने के साथ-साथ सुलसा नारीसुलभ गुणो से सम्पन्न पति-

---

१ भगवान महावीर के समय मे सुलसा श्राविका हुई है, उसके पति का नाम भी

परायणा स्त्री थी। सुलसा के अणीयसेन नाम का एक परम रूपवान पुत्ररत्न था। अणीयसेन का पालन-पोषण पाँच धायो के सरक्षण मे हो रहा था। क्षीरधात्री—दूध पिलाने वाली धाय कुमार को दूध पिलाती थी, मज्जनधात्री—स्नान कराने वाली धाय थी, मण्डनधात्री—वस्त्रालकारो से सजाने वाली धाय माता थी, क्रीडनधात्री—अणीयसेन को विविध क्रीडाएँ कराती थी और अकधात्री—कुमार को अपने अक (गोद) मे धारण किये रहती थी। इस तरह पाँच धाय माताओ द्वारा पोषित-पालित अणीयसेन वृद्धि को प्राप्त होने लगा।

वृद्धि को प्राप्त होते-होते अणीयसेन अथवा अनीकसेन आठ वर्ष का हो गया। यह समय घर के आँगन को छोडकर बाहर जाने का है—विद्यालय जाकर विद्याध्ययन करने का है। गाथापति नाग और सुलसा ने भी अणीयसेन को योग्य बनाने के विचार से विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेजा। मन्दबुद्धि छात्र जिस विद्या को वर्षों मे सीख पाते हैं, मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न छात्र उसी विद्या को अल्प समय मे सीख लेते हैं। अणीयसेन होनहार और प्रतिभाशाली छात्र था, अत वह कुछ ही दिनो मे बहत्तर कलाओ मे निष्णात होकर घर आ गया।

विद्याकुशल अणीयसेन अब युवा हो गया था। युवावस्था मे उसका रूप-लावण्य और भी अधिक निखर आया था। बडे-बडे धनी-मानी श्रेष्ठी अणीयसेन को अपना दामाद बनाना चाहते थे। अनेक सुन्दर सुकुमारी श्रेष्ठि-कन्याएँ अणीयसेन को अपना पति बनाने की मनौतियाँ करती थी। गाथापति नाग भी गुणवती, रूपवती पुत्र-वधुओ से अन्त पुर की शोभा बढ़ाना चाहता था। अत उसने अनेक श्रेष्ठियो के विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर समान वय, समान लावण्य और समान रूप-यौवन एव सुशीलता वाली यहाँ तक कि समान त्वचा वाली और अपने ही समान श्रेष्ठ कुलो वाली इभ्यसेठो की बत्तीस कन्याओ के साथ अणीयसेन का विवाह एक ही दिन मे कर दिया।

महाबलकुमार[1] के माता-पिता के समान नाग गाथापति ने भी बहुत-सा धन, रत्नादि प्रीतिदान मे दिया। अणीयसेनकुमार का विवाहित जीवन भी सुखोपभोगो में बीतने लगा। ससार मे जितने भी सुख प्राणी भोगता है, वह सब पूर्वार्जित पुण्यो के प्रभाव से भोगता है। इसलिए पुण्य कर्मों के लिए कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अणीयसेन कुमार भी अपने विलास भवन के ऊपरी खण्ड मे निरन्तर बजती हुई मृदग ध्वनि का आनन्द लेते हुए पुण्योपार्जित सुखो का भोग कर रहा था।

नाग गाथापति था। उसके ३२ पुत्र हुए। वह राजगृह मे रहने वाली थी। यह सुलसा दृढ सम्यक्त्वी थी और अगली चौबीसी में १५वाँ तीर्थंकर होगी। अन्तगड सूत्र वर्णित सुलसा भगवान अरिष्टनेमि-युग मे हुई। अत दोनो भिन्न हैं।

—सम्पादक

१ महाबलकुमार का प्रसग भगवती सूत्र शतक ११, उद्देशक ११ मे देखें।

भद्दिलपुर नगर के बाहर ईशान कोण मे श्रीवन नाम का एक बडा ही मनोहर उद्यान था। एक बार इसी श्रीवन उद्यान मे भगवान अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ। भगवान अरिष्टनेमि अपनी मर्यादानुकूल अवग्रह लेकर श्रीवन मे विचरने लगे। भद्दिलपुर नगर की जनता भगवान की धर्मदेशना सुनने श्रीवन पहुंची। नगर की जनता को श्रीवन की ओर जाते देख अनीकसेन कुमार भी गौतमकुमार के समान अपने भवन से निकला और भगवान की परिषद् मे बैठ धर्मकथा सुनने लगा।

सत्सग सभाओ और धर्म सभाओ मे अनेक श्रोता कथा-श्रवण करते हैं, पर सभा से लौटकर ज्यो के त्यो बने रहते हैं। यह श्रवण 'पल्लाझाड श्रवण' कहलाता है, जो कुछ सुना, पल्ला झाडकर वही का वही छोड दिया और मनरूपी झोली को खाली लेकर चले आये। लेकिन अनीकसेन ने जो कुछ सुना उसे सहेजकर हृदय मे उतार लिया। वह भगवान अरिष्टनेमि के चरणो मे पहुंचकर प्रार्थना करने लगा—भते! मैंने आपकी वाणी सुनी है, उस पर श्रद्धा व विश्वास हुआ है कि यह कल्याण करने वाली है; इस पर मुझे प्रतीति हुई है कि इस पर आचरण करके अनेक भव्य जीवो ने भव-भ्रमण से मुक्ति पाई है। इस पर आचरण करने की मुझे रुचि-प्रतीति व दिलचस्पी जागृत हुई है।[1] मैं ससार त्यागकर दीक्षा लेना चाहता हूं। प्रभु ने कहा—अहासुह जैसा सुख हो वैसा करो! अनीकसेन प्रभु के समवसरण से उठकर घर पहुंचा और माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा मांगी। जिसे बत्तीस नारियो का सुखद आकर्षण और सुखोपभोग दीक्षा से विमुख नही कर सके, उसे माता-पिता का मोह भला कैसे रोकता? गाथापति नाग व सुलसा ने अणीयसेन को दीक्षा की अनुमति दे दी और कुमार अणीयसेन ने प्रभुचरणों मे सयम ग्रहण कर लिया।

अणीयसेन ने गौतमकुमार[2] की भांति ही निर्दोष सयम का पालन किया। गौतमकुमार ने बारह वर्ष तक सयम का पालन किया और सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया, जबकि अणीयसेनकुमार ने सामायिक आदि चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया और फिर शत्रुजय पर्वत पर एक मास की सलेखना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है—सुलसा तथा गाथापति नाग के पांच पुत्र और थे—अनन्तसेन, अजितसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। ये पांचो अणीयसेन के सहोदर थे। इन्होंने भी ज्येष्ठ भ्राता अणीयसेन के समान भगवान अरिष्टनेमि का शिष्यत्व प्राप्त किया था और शत्रुजय पर्वत पर मुक्ति प्राप्त की थी। इन पांचो ने भी बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया, चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और एक महीने की सलेखना करके शत्रुजय गिरि पर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

---

१ सद्दहामि ण भते! पत्तियामिण भते! रोयेमि ण भते!

२ प्रथम कथा पेज ६७ पर देखें।

भगवान् अरिष्टनेमि के अणीयसेन, अनन्तसेन, अजितसेन, अनहितरिपु, देवसेन और शत्रुसेन—ये छहो शिष्य सहोदर भाई थे ।[1] छहो समान आकार, समान रूप और समान वय वाले थे । उनके शरीर की कान्ति नीलकमल अथवा भैंस के सीग के भीतरी भाग या अलसी के फूल के समान नीलाभ और गुली के रग के समान थी। उनका वक्ष 'श्रीवत्स' चिह्न से शोभित था । उनके बाल फूल-से कोमल और घुंघराले थे । ये छहो भाई नलकूबर (अत्यत सुन्दर देवकुमार) के समान सौन्दर्यशाली थे ।

इन छहो भाइयो ने ससार के सभी ऐश्वर्य और भोगो का त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और कठिन दीक्षा पर्याय का पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए ।

[अतगड सूत्र के तीसरे वर्ग के ये क्रमश १, २, ३, ४, ५, और ६ अध्ययन-पूर्ण हुए ।]



१ श्रीअनीक सेनादिक, छये सहोदर भाय ।
वसुदेवना नन्दन देवकी ज्यारी माय ।
भद्दिलपुर नगरी नाग गहावई जाण ।
सुलसा घर वधिया, साभली नेमिनी वाण ।५८।
तजी वत्तीस-वत्तीस अन्तेउर निकलिया छिटकाय ।
नल-कूबर समाना भेट्या श्रीनेमिना पाय ।५९।
करी छठ-छठ पारणा, मन मे वैराग्य लाय ।
एक मास सथारे मुक्ति विराज्या जाय ।६०।
—आचार्य श्री जयमल्ल जी कृत वडी साधु वन्दना ।

५

सारणकुमार

बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी, स्वर्गलोक के समान सुन्दर द्वारका नगरी में वसुदेव नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था। एक बार रानी धारिणी ने सिंह का स्वप्न देखा। यह स्वप्न एक सस्कारी और शुभ विचार वाले पुत्र के जन्म लेने का सूचक था। स्वप्न के शुभ फल से वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए।

यथासमय रानी धारिणी ने गर्भधारण किया और गर्भकाल पूरा होने के बाद एक सुन्दर पुत्र रत्न को जन्म दिया। नृपति वसुदेव ने बालक का नाम सारण कुमार रखा। सभी सुख-सुविधाओ मे पलकर जब कुमार अध्ययन योग्य हुआ तो उसे कलाचार्य के पास भेजा गया। तीव्रबुद्धि सारणकुमार कुछ ही समय मे बहत्तर कलाओ मे पूर्ण पारगत हो गया।

जब सारणकुमार युवा हुआ तो उसका विवाह कर दिया गया। विवाह के बाद सारणकुमार ने एक दिन भगवान अरिष्टनेमि का उपदेश सुना तो उसे ससार से विरक्ति हो गई और उसने माता-पिता की आज्ञा ले दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेने के बाद सारणकुमार ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया। तदनन्तर गौतमकुमार की भांति शत्रुजय पर्वत पर एक मास की सलेखना करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और घाति एवं अघाति कर्मों का क्षयकर सिद्धबुद्ध-मुक्त हुए।

अतगड सूत्र, वर्ग ३ । अध्ययन ७



६

देहाध्यास से मुक्त, समभावी साधक : गजसुकुमार

बन्धुओ !

पर्युषण के दिनो मे हमे समत्व की विशिष्ट साधना करनी है। देहभावना से मुक्त होकर देहातीत भाव मे रमण करना है। समता की भावना को प्रखर करने के लिए आज आपके सामने गजसुकुमार का वर्णन किया जाता है।

कहा जाता है कि द्वारका नगरी का निर्माण स्वय धनपति कुबेर ने किया था। यह नगरी स्वर्ग के सदृश सौन्दर्यशालिनी थी। बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी—एक सौ आठ वर्ग योजन क्षेत्रफल की इस द्वारका नगरी का परकोटा स्वर्ण का था, उसके कँगूरे पाँच वर्ण के रत्नो से जडे थे। द्वारका नगरी दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप थी। इसके उत्तर-पूर्व दिशा-भाग मे रैवत पर्वत था, उस पर्वत पर श्याममेघो की सी सघन छायावाली वृक्षश्री से युक्त अत्यन्त शोभावाला 'नन्दनवन' नामक विशाल उद्यान था। इस नन्दनवन मे एक यक्षायतन था। इस नन्दनवन के मध्य भाग में एक अशोक वृक्ष था। इसी अशोक वृक्ष के नीचे भगवान अरिष्टनेमि ने अपनी धर्म-सभाएँ जोडकर अमरता का सन्देश दिया था।

इसी द्वारिका नगरी मे तीन खण्डो के शासक महासम्राट वासुदेव श्रीकृष्ण धर्मपूर्वक राज्य कर रहे थे। वासुदेव श्रीकृष्ण मात्र राजा नही थे, बल्कि लोक नायक भी थे। राजा केवल जनता पर शासन करता है, जबकि लोकनायक जन-जन के हृदय पर शासन करता है। उन्होंने प्रजाधर्म और राजधर्म की स्थापना के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया था।

वासुदेव कृष्ण जैसे विनम्र, सर्वप्रिय, सुन्दर-सुशील पुत्र को पाकर माता देवकी, पिता वसुदेव तथा बलराम भाई अपने को धन्य और भाग्यशाली समझते थे।

छह अनगार

ज्ञानी-अज्ञानी—हर ससारी जन्म, जीवन और मरण—इन तीनो अवस्थाओं में से गुजरता है। अज्ञानी सोचता है कि जन्म और मरण दुखमय हैं, जीवन सुखमय है, इसलिए वह जीवन का सरक्षण करता है, जीवन के वियोग की कल्पना से भी दुखी

होता है। लेकिन ज्ञानी सोचता है कि जब जन्म-मरण दुखमय है तो बीच की अवस्था जीवन ही कैसे सुखमय हो सकता है। वह तीनो को दुखमय देखता है और इसीलिए जीवन के नष्ट होने पर व्याकुल-विकल नही होता। वह ज्ञान, तप और सेवा की त्रिवेणी मे अवगाहन करके सुख के मोती प्राप्त कर लेता है। ज्ञानी को भोग जलते अगारे-जैसा दाहक लगता है और वह भोग को त्यागकर योग के कल्याणकारी पथ पर चलकर अपना जीवन सार्थक बनाता है।

तो मैं कह रहा था, उस—द्वारका नगरी के बाहर रैवतगिरि पर नन्दनवन नामक उद्यान मे एकबार भगवान अरिष्टनेमि पधारे। अपने जीवन को सार्थक बनाने वाले उनके शिष्य-समूह मे छह सहोदर भाई भी उनके शिष्य थे। ये छहो भाई समान आकार, समान रूप और समान वय के थे। छहों मे रग रूप और आकार की ऐसी समानता थी कि छहो व्यक्ति छह दर्पणो मे प्रतिबिम्बित एक ही व्यक्ति की छह प्रतिच्छाया-सी लगते थे। उनके शरीर की कान्ति इन्दीवर (नीलकमल) अथवा भैंस के सींग के भीतरी भाग अथवा गुली के रग के समान अथवा अलसी के फूल के समान नीले रग वाली थी। उनका वक्षस्थल 'श्रीवत्स' नामक चिन्ह से शोभित था तथा उनकी केशराशि कुसुम-सी कोमल और कुण्डल-सी घुंघराली थी। वे छहों सहोदर अनगार नल-कूबर के समान सुन्दर व आकर्षक थे। आप पिछले अध्ययन मे अनीकसेन, अनन्तसेन का वर्णन सुन ही चुके हैं, ये वे ही छहो भाई थे।

दीक्षा के प्रथम दिन छहो सहोदर-शिष्यो ने (अनीकसेन आदि) ने भगवान अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार करके पूछा—

"भगवन्! यदि आपकी आज्ञा हो तो हमारी ऐसी इच्छा है कि हम यावज्जीवन निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) की तपश्चर्या से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करें।"

भगवान नेमिनाथ धर्मकर्म में स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। उनकी अनुमति मे दबाव अथवा आदेश की गंध भी नहीं होती थी, साथ ही वे यह भी नही चाहते थे कि धर्मकार्य मे प्रमाद अथवा विलम्ब हो। दोनो भावनाओ का सुन्दर समन्वय करते हुए भगवान ने कहा—

"देवानुप्रिय! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसा करो (पर) धर्मकार्य मे विलम्ब मत करो।"

गुरु-भगवान् की अनुज्ञा प्राप्त कर वे छहों सहोदर अनगार बेले-बेले की तपश्चर्या द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर विचरने लगे। इसी विचरण क्रम मे एक दिन बेले के पारणे के दिन विधि-विधान का पालन करने हेतु छहो अनगारो ने प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर मे ध्यान किया और तीसरे प्रहर मे भगवान के पास आकर बोले—

"भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो आज बेले के पारणे मे हम छहो मुनि तीन

सघाडो—दो-दो की तीन टोलियो मे विभक्त होकर मुनियो के कल्प के अनुसार सामुदायिक भिक्षा के लिए द्वारका नगरी मे जावें।"

भगवान ने सहज रूप से अनुज्ञा प्रदान की—

"देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

भगवान् की अनुज्ञा प्राप्त कर छहो अनगार प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर सहस्राम्रवन[1] अथवा नन्दनवन से बाहर निकले और दो-दो के तीन सघाडो (टोलियो) मे द्वारका नगरी मे प्रविष्ट हुए। उनकी गति अथवा चाल गज जैसी धीमी थी। उनके चलने मे न तो शीघ्रता थी, चपलता और लाभालाभ की चिन्ता भी नही थी तथा किसी प्रकार का उद्वेग भी नही था। **असंभतो अमुच्छिओ**—असंभ्रात और अमूर्च्छाभाव (अनासक्तवृत्ति) के साथ गमन करना उनका आदर्श था। इसी वृत्ति से चलते हुए—दो-दो मुनियो के तीनो सघाडे द्वारका नगरी के ऊँच-नीच, मध्यम कुलो मे **उच्चणीय मज्झिमाइ कुलाइं**—गृह सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमने लगे। भिक्षा के लिए विचरण करती हुई एक टोली महाराज वसुदेव और महारानी देवकी के महलो मे पहुँची। मुनियो के सघाड़े को अपने यहाँ आते देखकर महारानी देवकी अत्यन्त आनन्दित हुई **हट्ठ तुट्ठ चित्तमाणदिया पीईमणा परम सोमणस्सिया**—उसके मन मे परम प्रीति उत्पन्न हुई, उसका हृदय कमल विकसित हो गया, तुरत वह—अपने आसन से उठीं, और सात-आठ कदम उनके सामने गईं और दोनो मुनियो को वदना-नमस्कार कर अपने को धन्य मानते हुए हर्ष-विह्वल होकर बोली—

"आज मैं धन्य हुई, जो मेरे घर अनगार पधारे।" यह कह महारानी देवकी भक्ति-विभोर होकर मुनियो को पुन. पुन वन्दन-नमस्कार करने लगीं और तदनन्तर उन्हे रसोईघर मे ले गईं। रानी देवकी ने चौरासी प्रकार की विशिष्ट पौष्टिक वस्तुएँ मिलाकर कृष्ण वासुदेव के लिए 'सिंह केसरी मोदक' तैयार किये थे। वही अति पौष्टिक-अति स्वादिष्ट सिंह केसरी मोदक महारानी देवकी ने दोनो मुनियो को बहराये। भिक्षा प्राप्त कर दो मुनियो का सघाडा चला गया।

उनके जाने के कुछ ही देर बाद दूसरा सघाडा भी गरीब-अमीर, महल-झोपड़ी मे घूमता हुआ देवकी महारानी के घर पर आया। इन दोनो अनगारो को भी देवकी महारानी ने पूर्ववत् वन्दन-नमस्कार कर 'सिंह केसरी' मोदक बहराये। जब ये भी चले गए तो दो मुनियो की तीसरी टोली भी देवकी के यहाँ आई। इस तीसरी टोली के अनगारो को भी देवकी महारानी ने बहुमानपूर्वक मोदक बहराये। तीसरी टोली के अनगारो को देखकर देवकी रानी के मन मे शका और आश्चर्य की लहरें उठने लगी। अपने मन के भावो को प्रकट करते हुए महारानी देवकी ने विनययुक्त वाणी मे कहा—

---

१ नन्दनवन मे एक हजार आम्रवृक्ष होने से वही सहस्राम्रवन कहलाता था।

"भगवन्! मुझे बडा खेद है कि कृष्ण वासुदेव जैसे महाप्रतापी राजा की बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी अलका सदृश द्वारका नगरी के ऊँच-नीच और मध्यम कुलो मे सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमते हुए श्रमण-निर्ग्रन्थो को—भिक्खायरियाए अडमाणा भत्तपाण नो लभंति—आहार-पानी नही मिलता ? इसलिए श्रमण-निर्ग्रन्थो को एक ही कुल में बार-बार आना पडता है ?"

देवकी की शका सुनकर अनगार बोले—

"देवानुप्रिये! द्वारका मे श्रमण-निर्ग्रन्थो को आहार-पानी नही मिलता, इसलिए उन्हे एक ही कुल मे बार-बार आना पडता है, ऐसी बात नहीं है। हम दोनो आपके यहाँ पहली बार, अर्थात् एक ही बार आये हैं। हमसे पहले जो दो मुनियो का सघाडा आया था, वे हम नही हैं। पहली बार जो दो मुनियो की टोली आई थी, वह पहली ही टोली थी, दूसरी बार के अनगार पहले वाले नहीं थे।

"देवानुप्रिये! हमारे रूप, वय, आकार आदि की समानता के कारण ही तुम्हे यह भ्रान्ति हुई है। हम छहों अनगार दो-दो के तीन संघाडो मे द्वारका नगरी के गरीब-अमीर, महल-झोपड़ी मे घूमते हुए एक-एक सघाड़े के रूप मे तीन बार तुम्हारे यहाँ आये हैं।"

छहो अनगारो ने देवकी की बढी हुई जिज्ञासा को जानकर अपना परिचय देना शुरू किया—

"देवानुप्रिये! हम भद्दिलपुर निवासी गाथापति नाग के पुत्र हैं तथा सुलसा हमारी माता है। हम छहो सहोदर भाई रूप-लावण्य मे समान हैं। भगवान् अरिष्टनेमि से धर्म सुनकर हम ससार के भय से उद्विग्न हुये। जन्म-मरण की तरह यह जीवन भी हमे कारागार की तरह दुखद लगने लगा, सो हमने प्रभुचरणो मे दीक्षा ले ली। प्रव्रज्या के प्रथम दिन से ही हमने भगवान की आज्ञा से यावज्जीवन बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा की है। आज हम सबके बेले का पारणा है। हमने पहले प्रहर मे स्वाध्याय किया, दूसरे में ध्यान किया और अब भगवान की आज्ञा से तीसरे प्रहर मे हम छहो सहोदर-अनगार तीन सघाडा से भिक्षा के लिए निकले। द्वारका नगरी के ऊँच-नीच, मध्यम कुलो में सामुदायिक भिक्षा के लिए घूमते हुए संयोगवश हम तीनो सघाड़े तुम्हारे घर आ गये हैं। इसलिये हे देवानुप्रिये! हम वे मुनि नही हैं, जो पहले आये थे। सबसे पहले जो मुनि आये थे, वे भी दूसरे थे और बीच मे दूसरे सघाड़े मे जो मुनि आये थे, वे भी दूसरे थे और तीसरे सघाड़े में जो हम आये हैं, सो हम भी दूसरे हैं।"

इस प्रकार देवकी के मन की शका का समाधान करके वे अनगार जिधर से आये थे, उधर ही चले गये। देवकी महारानी के मन की एक शका दूर हुई तो एक दूसरी शंका, आश्चर्य और विषाद से उसका मन भर गया। नल-कूबर के समान सुन्दर आकर्षक, नीलाभ कान्ति वाले एक-से रूप-आकृति के छह सहोदर-अनगारो को देखकर

देवकी को अपने बचपन की एक घटना उद्वेलित करने लगी। देवकी सोच रही थीं—
एवं खलु अहं पोलासपुरे णयरे अइमुत्तेणं कुमार समणेणं बालत्तणे वागरिया—

"जब मैं छोटी थी, तब पोलासुर नगर मे अतिमुक्त अनगार ने मुझसे कहा था कि देवकी ! तू आठ पुत्रो को जन्म देगी। तेरे सभी पुत्र रूप, वय, आकृति और कान्ति मे समान होंगे। वे सभी नल-कूबर के समान सुन्दर होंगे। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र मे तेरे सिवा कोई दूसरी ऐसी माता नही होगी जो ऐसे सुन्दर और समान पुत्रो को जन्म दे।"

देवकी सोचने लगी—

"मुनियो की वाणी असत्य नही होती, पर मुनि अतिमुक्तक का कथन तो आज मिथ्या प्रतीत होता है। मैंने तो प्रत्यक्षत अपनी आंखो से आज देखा है कि इस भरत-क्षेत्र मे किसी दूसरी माता— सुलसा ने नल-कूवर के समान सुन्दर तथा एक से रूप वाले छह पुत्रो को जन्म दिया है। मुनि अतिमुक्तक के वचन असत्य तो होने नही चाहिये। अत. यही उचित है कि मैं भगवान अरिष्टनेमि से पूछूँ कि ऐसा क्योकर हुआ ?"

रहस्य खुला

कभी-कभी जो दीखता है, वह सत्य नही होता और जो सत्य होता है, वह दिखाई नही देता। जो सत्य था उसे महारानी देवकी देख नहीं पा रही थीं और जो वे प्रत्यक्षत. देख रही थी वह सत्य नही था। सत्य-घटना की गहराई मे छिपा था। उसका उद्घाटन ज्ञानी के सिवाय और कौन कर पाते ? अत· महारानी देवकी ने भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुंचने के विचार से सेवको को अपना धर्मरथ तैयार करने की आज्ञा दी। सेवको ने धर्मरथ तैयार किया देवकी देवी भगवान् महावीर की माता देवानन्दा के समान रथारूढ़ होकर भगवान् अरिष्टनेमि के समीप पहुंचीं और प्रभु को वन्दन-नमस्कार करके पर्युपासना करने लगी।

तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होते हैं। वे घट-घट की बात जानते हैं। जब देवकी उनके निकट समुपस्थित हुई तो अन्तर्यामी प्रभु नेमिनाथ ने उनके मन की दुविधा को जान लिया। वे खिन्नमुखी देवकी देवी से कहने लगे—

"हे देवकी ! आज तूने समान रूप, वय, आकृति और नल-कूवर की-सी शोभा वाले छह अनगारो को देखकर सोचा है कि जब मैं बालक थी, तब पोलासुर नगर में मुनि अतिमुक्तक ने मुझसे कहा था कि तू ऐसे ही नल-कूबर के समान सुन्दर समान रूप, वय, आकृति वाले आठ पुत्रो की माता होगी। इस भरत-क्षेत्र मे तेरे समान कोई दूसरी माता ऐसे पुत्रो को जन्म नहीं देगी। सो देवकी ! तेरे मन मे यह शका है कि इस भरत-क्षेत्र मे किसी दूसरी माता—भद्दिलपुर निवासिनी सुलसा ऐसे ही पुत्रो की माता क्यो है ? अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी तुझ पर घटित न होकर सुलसा पर घटित हुई। देवकी ! क्या यह सच है ?"

भगवान ने पुनः पूछा—

"देवकी ! तूने यह विचार किया कि इस शका का समाधान भगवान अरिष्ट-नेमि से प्राप्त करूँ और इसीलिए तू रथारूढ होकर मेरे पास आई है। क्या यह भी सच है ?"

देवकी ने कहा—

हे अन्तर्यामिन् प्रभो। आपने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है। हंता ! अत्यि ? अब आप मेरी इस शका का समाधान कीजिए कि मुनि अतिमुक्तक ने जो कुछ कहा, वह असत्य कैसे हुआ ?

भगवान अरिष्टनेमि ने समाधान करते हुए कहा—

"देवानुप्रिये ! भद्दिलपुर नगर में धन-धान्य से सम्पन्न नाग नाम का गाथापति रहता था। सुलसा नाग की पत्नी थी। जब सुलसा बालक थी, तब एक भविष्यवेत्ता ने सुलसा के माता-पिता से कहा कि यह कन्या मृतवत्सा होगी।

"सुलसा को नैमित्तिक की इस भविष्यवाणी से बडा आघात लगा। अत वह सन्तान प्रदाता देव हरिणैगमेषी की आराधना करने लगी। विवाह से पहले अपने पिता के यहाँ ही सुलसा ने हरिणैगमेषी की एक प्रतिमा स्थापित की और प्रतिदिन स्नान के अनन्तर भीगी साडी पहने हुए ही प्रतिमा के सामने ढेरो फूल समर्पित करती तथा घुटने टेककर देव प्रतिमा को नमस्कार करती। इस प्रकार विधिवत् पूजा-उपासना करने के बाद ही वह अन्न-जल ग्रहण करती।

"सुलसा की निरन्तर भक्ति से हरिणैगमेषी देव प्रसन्न हुआ। जब सुलसा विवाहित होकर गाथापति नाग की पत्नी बनी, तब तुम भी विवाहित होकर वसुदेव राजा की रानी बन गई थी। हरिणैगमेषी देव ने सुलसा और तुम्हे एक ही साथ ऋतुमती (रजस्वला) किया। इस प्रकार सुलसा और तुम—दोनो एक साथ गर्भ धारण करती, एक साथ गर्भ-पालन करती और एक ही साथ बालक को जन्म देती। भविष्यवेत्ता की भविष्यवाणी के अनुसार सुलसा मृत बालक को जन्म देती थी। सुलसा का उपास्यदेव हरिणैगमेषी तुम्हारे जीवित बच्चो को सुलसा के पास पहुँचा देता था और सुलसा के मृत बच्चो को तुम्हारे पास रख देता था।"

इसके बाद भगवान अरिष्टनेमि ने स्पष्ट करते हुए देवकी से पुन. कहा—

"देवकी ! अनगार अतिमुक्तक के वचन ही सत्य हैं। ये छहो सहोदर अनगार तुम्हारे ही पुत्र हैं। इनको तुम्हीं ने जन्म दिया है, सुलसा ने नही। सुलसा ने सिर्फ इनका पालन किया है।"

यह सुनते ही देवकी विस्मित-सी देखने लगी। उसके हृदय मे अपूर्व आनन्द उमड आया और वह भगवान अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर उक्त छह अनगारो के पास गई। अपने छहो अगजात पुत्रों को देखकर देवकी के उरोजो का क्षीरसागर

उमड आया । देवकी की कचुकी भीग गई । माता का वात्सल्य द्रवित होकर बहने लगा । देवकी अपने पुत्रो को देखकर सुध-बुध खो बैठी । जब उसे कुछ चेतना आई तो हर्ष के मारे उसे रोमाच हो आया, उसका तन हर्ष से फूल उठा, कचुकी के बधन टूट गए, देह के आभूषण कसकर तग हो गए । देवकी बहुत देर तक नलकूबर के समान सुन्दर छहो अनगारो को एकटक देखती रही ।

आखिर देवकी को पुत्रमोह पर विजय पानी ही थी । उसके पुत्रो ने मुनिपथ अपनाकर वीतराग साधना प्रारम्भ जो की थी । उसके छहो पुत्रो ने उसके मातृत्व को धन्य कर दिया था । काफी देर तक पुत्रो को देखने के बाद देवकी ने छहो अनगारो को वन्दन-नमस्कार किया और पुन अशोक वृक्ष के नीचे बैठे भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुँची । इसके बाद उसने भगवान को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और फिर धर्मरथ पर आरूढ होकर द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपनी बैठक के निकट रथ को रुकवाया । रथ से उतरकर देवकी अपने भवन मे गई और कोमल शय्या पर बैठ विचारो मे डूब गई ।

पुत्र-कामना

इस घटना से देवकी के मन मे अनेक प्रकार के विकल्प उठने लगे । चिन्ता-मग्न हो देवकी सोचने लगी ।

"आकृति, वय और देह कान्ति मे एक जैसे नलकूबर के समान सौन्दर्यशाली मैंने सातपुत्रो को जन्म दिया । सात बार प्रसव पीडा सही, पर 'पुत्रवती' होकर भी मैं 'शिशुमती' न हो सकी । मैंने किसी पुत्र को शिशुरूप मे गोद नही खिलाया, बाल-क्रीडा का सुख नही उठाया । यह कृष्ण भी राज-काज मे इतना व्यस्त रहता है कि चरणवन्दन के लिए मेरे पास छह-छह महीने बाद आता है ।"

देवकी शिशुमती माताओ के भाग्य की सराहना करते हुए विचार करने लगी—

"वास्तव मे वे माताएँ धन्य है—भाग्यशालिनी हैं, जिनकी कोख से उत्पन्न शिशु स्तनपान करने के लिए अपनी मनोहर तोतली बोली मे माँ का मन मोह लेते हैं और 'मम्मण' शब्द करते हुए स्तनमूल से लेकर काँख तक के भाग में अभिसरण करते रहते हैं और वे भोले बालक अपनी माँ के द्वारा कमल के समान कोमल हाथो से उठाकर गोद मे बिठाये जाने पर अपनी माँ से तुतले शब्दों मे बातें करते हैं और मीठी बोली बोलते हैं ।"

फिर देवकी ने अपनी ओर देखा । अपने हीन भाग्य पर पश्चात्ताप करते हुए देवकी ने विचार किया—

"सात-सात पुत्रो की माँ होकर भी मैं कितनी अधन्य और अकृत पुण्य हूँ कि मैं अपने पुत्रो—शिशुओ की बाल-क्रीडा के आनन्द का अनुभव नही कर सकी ।"

इस प्रकार चिन्ता-विषाद से घिरी देवकी आर्तध्यान करने लगी । देवकी चिन्ता

में डूबी थी, तभी वस्त्राभूषणो से सज्जित होकर वासुदेव-श्रीकृष्ण माता देवकी की चरणवन्दना करने आये। उन्होंने माता के चरणो की वन्दना की और मां की खिन्न मुख-मुद्रा देखी तो स्वय भी चिन्तित हुए। वासुदेव श्री कृष्ण ने विनम्रतापूर्वक देवकी महारानी से पूछा—

"हे माता! जब मैं पहले तुम्हारे चरणो की वन्दना करने आता था तो मुझे देखकर तुम्हारा हृदय आनन्दातिरेक से पुलकित हो जाता था। आज मैं तुम्हें म्लान-मुख देख रहा हूं। हे माता! तुम्हारी इस उदासी का क्या कारण है?"

जब मन की बात कोई पूछने वाला हो तो दुखी प्राणी मन की बात कहकर अपना बोझ हल्का कर लेता है। महाप्रतापी और सामर्थ्यवान् वासुदेव श्रीकृष्ण देवकी रानी का दुख पूछ रहे हैं। वे माताएं धन्य हैं, जिनके कृष्ण जैसे सुपुत्र हैं, जो अपनी मां का दुख नही देख सकते। ऐसे सुपुत्र मां का दुख केवल जानना ही नही चाहते, बल्कि उसे दूर करने का प्रयत्न भी करते हैं। कृष्ण ने सोचा, मेरी मां को ऐसा कौन-सा दुख हो सकता है, जिसे मैं दूर नही कर सकता। दूसरे, उन्हें इसका आश्चर्य भी था कि मेरी मां को ससार के सभी सुख सुलभ हैं, फिर वह क्यो दुखी हैं। कृष्ण के पूछने पर देवकी देवी ने मन की बात कृष्ण से कही—

"हे पुत्र! मैंने आकृति, रूप, वय और देहकान्ति मे एक-जैसे नल-कूवर के समान सुन्दर सात पुत्रो को जन्म दिया है। मैं पुत्रवती होकर भी कभी शिशुमती नही हुई। एक भी पुत्र की शिशु-क्रीडा के आनन्द का अनुभव मैंने नही किया। हे कृष्ण! तू भी मेरे पास छह-छह महीने बाद चरण वन्दन को आता है। मैं तो अधन्य, और अकृतपुण्य हूं, जो मेरा भाग्य ऐसा है। वास्तव मे वे ही माताएं धन्य और पुण्यमती हैं, जो अपनी सतान की बाल-क्रीडा के आनन्द का अनुभव करती हैं। हे पुत्र! इसी दुख से मैं आर्तध्यान कर रही हूं।"

श्री कृष्णचन्द्र ने माता देवकी को सान्त्वना दी—

"हे माता! अब तुम आर्तध्यान मत करो। मैं ऐसा प्रयत्न करूंगा, जिससे मेरे एक छोटा सहोदर भाई उत्पन्न हो।"

इस प्रकार वासुदेव कृष्ण ने देवकी को धैर्य बंधाया और फिर वे अपने उपासनागृह—पौषधशाला मे गए और अभयकुमार की तरह अष्टमभक्त करके सन्तान-प्रदाता देव हरिणैगमेषी की आराधना करने लगे। कृष्ण की आराधना से हरिणैगमेषी देव प्रसन्न हुआ और प्रकट होकर कृष्ण से बोला—

"हे देवानुप्रिय! आपका अभिलषित मनोरथ क्या है? मैं आपकी कौन-सी इच्छा पूरी करूं?"

देव हरिणैगमेषी को प्रसन्न देख कृष्ण वासुदेव ने दोनो हाथ जोड, देव से कहा—

"हे देव ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी इस इच्छा को पूरा कीजिए कि मेरे एक सहोदर लघु भ्राता का जन्म हो।" "सहोयर कणीयसं भाउयं विदिण्ण।"

देव ने कहा—"हे देवानुप्रिय ! देवलोक का एक देव देवायुष्य पूर्ण करके तुम्हारा सहोदर लघु भ्राता होकर जन्म लेगा। अपनी बाल-क्रीडाओ से अपनी माता और ज्येष्ठ वन्धु आदि सबको आनन्द प्रदान करेगा। उसके बाद युवावस्था को प्राप्त होते ही वह भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ग्रहण करेगा।"

दो-तीन बार ऐसा आश्वासन देकर हरिणैगमेषी नामक देव अन्तर्धान हो गया। महापुरुष भविष्य के दुख से नहीं घबराते, बल्कि वर्तमान के सुख को प्राप्त कर सुखी होते हैं। **वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणा** —वे वर्तमान को ही प्राथमिकता देते हैं। यही बात श्रीकृष्ण ने अपने भावी लघु भ्राता के विषय मे सोची। वे दीक्षा की बात बताकर माँ को दुखी करना नही चाहते थे, क्योकि देवकी की इच्छा तो पुत्र की शिशु-क्रीडा का आनन्द अनुभव करने की थी। सो यह इच्छा देव के कथनानुसार पूरी हो रही थी। ऐसा विचार कर कृष्ण उपासनागृह से निकल कर माँ के पास आये और माँ देवकी को सुख देने वाली सूचना देते हुए बोले—

"हे माता ! अब आप चिन्ता को त्यागिए। मेरे एक सहोदर लघु भ्राता होगा। आपकी इच्छा पूर्ण होगी।"

इस प्रकार माता को सतोप प्रदान कर कृष्ण अपने स्थान को चले गए।

गजसुकुमार का जन्म

कुछ समय बीत गया। कृष्ण वासुदेव की माता महारानी देवकी एक रात सुख-शय्या पर सोई हुई थी। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उन्होंने सिंह का स्वप्न देखा। स्वप्न देखते ही उनकी नीद उचट गई। शय्या त्यागकर वे महाराज वसुदेव के पास आईं और अपना स्वप्न उन्हे सुनाया। वसुदेव ने बताया कि यह बहुत ही शुभ स्वप्न है। सबको आनन्द देने वाला एक पुत्र तुम्हारी कोख से जन्म लेगा। स्वप्न का ऐसा शुभ और मनोरथ पूर्ण करने वाला फल जानकर देवकी बहुत प्रसन्न हुई। कालान्तर मे देवकी गर्भवती हुईं। वे सुखपूर्वक अपने गर्भ का पालन करने लगी। धीरे-धीरे देवकी का गर्भकाल पूरा हुआ। इस प्रकार गर्भकाल के नौ महीने साढ़े सात दिन पूरे होने पर देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया। यह नवजात पुत्र जपाकुसुम, बन्धक पुष्प, लाक्षारस, पारिजात तथा उदयकालीन सूर्य के समान स्वर्णिम प्रभा वाला और सभी के नेत्रों को सुख देने वाला था। यह बालक अत्यन्त सुकुमार और गज अथवा हाथी के तालु के समान सुकोमल था, इसलिए महाराज वसुदेव ने इस बालक का नाम 'गजसुकुमाल' रखा। कोई-कोई उसे 'गजसुकुमार' भी कहते थे। इस तरह कृष्ण का यह सहोदर लघुभ्राता 'गजसुकुमार' अथवा 'गजसुकुमाल' इन्ही दो नामों से प्रसिद्ध हुआ। महाराज वसुदेव ने गजसुकुमार का जन्मोत्सव बड़े आडम्बर से मनाया। एक बार तो पूरी द्वारका नगरी नववधू-सी सज गई।

देवकी की चिरप्रतीक्षित और चिरअभिलषित इच्छा पूरी हुई। वे गज-सुकुमाल को स्तनपान करातीं, अंक मे भर कर चूमती और नाना प्रकार की बाल-क्रीडाओ से आनन्दित होती। यद्यपि महाराज वसुदेव के यहाँ सेवक-सेविकाओ तथा धात्रियो की कमी नही थी, फिर भी महारानी देवकी स्वय अपने हाथो से शिशु गज-सुकुमार का लालन-पालन करती थी। अब गजसुकुमार माँ को अपनी क्रीडाओ से आनन्दित करता हुआ वृद्धि को प्राप्त होने लगा। जब वह बाहर जाकर खेलने-कूदने लायक हो गया तो कृष्ण वासुदेव उसे अपने साथ हाथी पर बैठाकर द्वारका की सैर कराते और उसे अनेक प्रकार से लाड-लडाते थे।

सोमा के साथ सगाई

द्वारका नगरी मे सोमिल नाम का एक कर्मकाण्डी और वेदान्ती ब्राह्मण रहता था। सोमिल पर लक्ष्मी और सरस्वती—दोनो की कृपा थी। वह धन-धान्य से समृद्ध और श्री सम्पन्न तो था ही, चारो वेदो का सागोपाग ज्ञाता और प्रकाण्ड विद्वान भी था। सोमिल की ब्राह्मणी सोमश्री की कोख से उत्पन्न सोमिल विप्र की 'सोमा' नाम की एक कन्या थी। सोमा अपनी माता के अनुरूप सुकुमारी और रूपवती थी। सोमा का अग-विन्यास बडा ही आकर्षक था। वह देखने वालो को बरबस ही मोह लेती थी।

एक दिन सोमा स्नानादि से निवृत्त होकर सुन्दर वस्त्रालकार धारण करके अनेक कुब्जा दासियो तथा दूसरी दासियो से परिवृत्त होकर राजमार्ग पर सोने की गेंद से खेल रही थी। उन्ही दिनो भगवान अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। वे रैवतगिरि पर स्थित नन्दनवन मे ठहरे हुए थे। अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मसभा जुडी हुई थी। कृष्ण वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन का निश्चय किया। अपने निश्चया-नुसार उन्होंने स्नान आदि से निवृत्त होकर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये और अपने अनुज गजसुकुमार को अपने साथ हाथी पर बैठाकर द्वारका के मध्य होते हुए भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने चले।

कोरण्ट फूलो की माला धारण किये हुए तथा छत्र-चामरो से सुशोभित जब वासुदेव कृष्ण गजसुकुमार को साथ लिये नन्दनवन की ओर जा रहे थे तो उन्हें स्वर्ण-कदुक से क्रीडा करती हुई विप्र-कन्या सोमा दिखाई दी। सोमा के रूप-लावण्य और देह कान्ति को देखकर द्वारकाधीश कृष्ण को बडा विस्मय हुआ। मन-ही-मन उन्होंने सोचा यह कन्या बडी सुकुमार है, रूप-लावण्य मे अनुपम है, यह मेरे छोटे भाई गज-सुकुमार की वधू बनने के सर्वथा योग्य है। इन दोनो की जोडी रति और कामदेव के समान ही होगी। अत इसे अभी से अपने अन्त पुर में रखना चाहिए। वासुदेव ने तुरत सेवकों से कन्या का परिचय पूछा। परिचय जानकर वासुदेव ने सेवको को आज्ञा दी—

"हे देवानुप्रिय ! तुम सोमिल ब्राह्मण के पास जाओ और उससे मेरे अनुज के लिए इस कन्या की याचना करो और फिर इस सोमा को कन्याओ के अन्त पुर में पहुँचा दो। यह सोमा गजसुकुमार की भार्या होगी।"

कृष्ण के सेवको ने आदेश अनुसरण किया। वासुदेव के सेवको का प्रस्ताव सुनकर सोमिल को कल्पनातीत प्रसन्नता हुई। महासम्राट् वासुदेव श्रीकृष्ण के लघु-भ्राता सोमिल के जामाता बनें, यह सवाद अप्रत्याशित प्रसन्नता का था। सोमिल ने कृष्ण वासुदेव का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। कृष्ण के सेवको ने सोमा को ले जाकर कन्याओ के अन्त पुर मे रख दिया और महाराज कृष्ण को इसकी सूचना दे दी। इसके वाद कृष्ण वासुदेव गजसुकुमार सहित सहस्राम्रवन अथवा नन्दनवन पहुँचे। दोनो भाइयो ने भगवान को वन्दन-नमस्कार किया और प्रभु की पर्युपासना करने लगे। भगवान ने विशाल परिषद को धर्मोपदेश दिया। प्रभु का उपदेश सुनकर कृष्ण वासुदेव तो अपने भवन को चले गए, किन्तु गजसुकुमार प्रभु के पास ही बैठा रहा।

होनहार की गति वडी विचित्र है। श्री कृष्ण गजसुकुमार के विवाह के लिए रास्ता चलते कन्या ढूंढते हैं, रिश्ता तय करते हैं और कन्याओ के अन्त पुर मे उसे रखवा देते हैं। उन्हे क्या पता था कि अपने जिस अनुज के लिए मैं सोमिल से उसकी कन्या की रास्ता चलते याचना कर रहा हूँ, वही गजसुकुमार इन रेशमी वन्धनों को पैरो मे पडने का अवसर ही न आने देगा। जव गजसुकुमार अपने अग्रज कृष्ण के साथ लौट-कर वापस नही आया और प्रभु के पास ही बैठा रहा, तव वह भी जानता था कि भैया ने मेरे लिए अनिन्द्य सुन्दरी वधू का चयन कर लिया है। भगवान का उपदेश सुनकर उसे अपना यह जीवन काँटों की सेज लगने लगा और राजसी ठाट-वाट, महल, खजाने सव कारागार लगने लगे। गजसुकुमार के मन मे वैराग्य का सागर हिलोरें लेने लगा। वादल सव जगह समान रूप से जल वरसाते हैं, पर वही जल धतूरे के बीज मे पडकर विष का वृक्ष उपजाता है और गुलाव के पौधे को सीच कर सुगन्ध की सृष्टि करता है। भगवान अरिष्टनेमि ने भी सवको समान रूप से धर्मोपदेश दिया था, पर सव पर अलग-अलग प्रभाव था। हरेक के सस्कार भिन्न थे, हरेक पर पडा प्रभाव भी भिन्न था। देखिए—अभी-अभी जिस राजपुत्र की रास्ता चलते विवाह की तैयारियां हो रही थी, वही वैराग्य पूरित गजसुकुमार भगवान से कहता है—

"प्रभो! मैं अपने माता-पिता से पूछकर आपके पास दीक्षा ग्रहण करूँगा।"

मेघकुमार[1] के समान गजसुकुमार भगवान के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट कर घर आया और पिता वसुदेव तथा माता देवकी के समक्ष दीक्षा की वात कही। गजसुकुमार के मुख से ऐसी अनचाही और अनसोची अभिलाषा सुनकर माता-पिता स्तभित रह गये। उसे समझाने लगे—

"हे पुत्र! तुम्हारी उम्र अभी दीक्षा ग्रहण करने की नही है। तुम हमे बहुत इष्ट और प्रिय हो। तुम्हारा वियोग हम नही सह पायेंगे। अभी तो तुमने यौवन की देहली पर पैर रखा है। अभी तुम्हारा विवाह भी नही हुआ है। पहले तुम विवाह

---

१ ज्ञातासूत्र अध्ययन १

करो, फिर कुल की वृद्धि करो। जब तुम्हारे पुत्रादि हो जाएँ और हमारा परलोक-वास हो जाये तो तुम अवश्य ही दीक्षा ग्रहण करना।"

गजसुकुमार ने माता-पिता की बात का कोई उत्तर नही दिया, वह मौन ही रहा। इधर कृष्ण-वासुदेव ने छोटे भाई के वैराग्य की बात सुनी तो तुरन्त दौड़े आये और स्नेह पूर्वक भाई को वक्ष से लगाकर अपने अक (गोद) मे बैठाया और इस प्रकार कहने लगे—

"हे देवानुप्रिय ! तुम मेरे छोटे भाई हो। मेरा तुम से यही कहना है कि तुम अभी दीक्षा मत लो। मैं बड़े ठाट-बाठ से तुम्हारा राज्याभिषेक करके तुम्हें द्वारका का राजा बनाऊँगा।"

कृष्ण वासुदेव के ये वचन सुनकर भी गजसुकुमार मौन रहा। वह आत्मा के अनत साम्राज्य की कल्पना कर चुका था, उसके समक्ष वासुदेव का यह भौतिक साम्राज्य उसे अत्यत तुच्छ और क्षणिक प्रतीत हुआ। कुछ देर मौन रहने के बाद उसने माता देवकी, पिता वसुदेव तथा भ्राता श्रीकृष्ण से दो-तीन बार इस प्रकार अपना अभिप्राय प्रकट किया—

"हे देवानुप्रिय। काम-भोग का आधारभूत यह शरीर मल-मूत्र, कफ, वमन, पित्त, शुक्र और शोणित का भण्डार है। इसके साथ ही यह मानव देह अस्थिर, अनित्य तथा सड-गल कर नष्ट होने वाली है। दुर्गन्ध युक्त तथा बीभत्स पदार्थों से भरा यह शरीर कभी-न-कभी अवश्य ही नष्ट होगा सो हे माता, हे पिता, हे बन्धु ! आप मुझे आज्ञा दीजिए। आपकी अनुमति प्राप्त कर मैं भगवान अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

जिसके मन मे वैराग्य की उत्कट भावना है, उसे कोई बातो से नही बहला सका और उसे बहला-फुसलाकर ससार की ओर नही मोड सका और जिसके मन मे भोगो की आसक्ति है, उसे हजारो बार के धर्मोपदेश भी प्रतिबोधित नही कर पाये। कितना ही जल बरसे, थोथा बीज अंकुरित नही होता और सही बीज जल का एक छींटा पाकर भी अकुरित हो जाता है—पत्थर की दीवार को बेधकर भी पेड लहलहाने लगता है। वासुदेव श्रीकृष्ण तथा वसुदेव-देवकी ने अनेक प्रकार से गजसुकुमार को समझाया, पर उस पर तो धर्म का रग चढकर पक्का हो गया था। अन्तत हारकर माता-पिता तथा भ्राता तीनो इस प्रकार बोले—

"हे देवानुप्रिय। हम लोग तुझे एक दिन के लिए राजसिंहासन पर बैठाकर तेरी राज्यश्री देखना चाहते हैं। इसलिए तुम कम-से-कम एक दिन के लिए राज्य-लक्ष्मी स्वीकार करो।"

माता-पिता और बडे भाई के इस अनुरोध पर गजसुकुमार मौन रहा। बडो की अवज्ञा से बचना और अपना अभीष्ट भी प्राप्त करना दोनो विचारो मे वह

गम्भीर हो गया। इधर 'मौन स्वीकृतिलक्षणम्' का विचार कर कृष्ण ने बड़े समारोह के साथ गजसुकुमार का राज्याभिषेक किया। गजसुकुमार द्वारकाधीश बनकर राजसिंहासन पर आसीन हो गया। छोटे-बडे अन्य राजा द्वारकाधीश गजसुकुमार को भेंट-उपहार देने लगे। स्वर्ण सिंहासन पर द्वारकेश गजसुकुमार को देखकर माता-पिता तथा बडे भाई श्रीकृष्ण वडे आनन्दित हुए।

मधुमक्खी जब फूल की ओर जाती है तो भिन्-भिन् करते हुए जाती है और जब फूल पर बैठ जाती है तो भिनभिनाना बन्द करके चुपचाप पुष्परस का पान करने लगती है। भोग-रस मे डूबकर सभी बडबडाना दूर कर देते है। गजसुकुमार को देखकर भी ऐसा ही लग रहा था। भोगो से दूर रहकर वैराग्य धारण करने की भिन्-भिन् सभी करते हैं, पर जब भोगो मे फँस जाते हैं तो मौन हो जाते हैं। जब गजसुकुमार से एक दिन के लिए राजमुकुट धारण करने का अनुरोध किया गया तो वह मौन रहा और अब स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान होकर भी मौन है। देवकी-वसुदेव और श्रीकृष्ण समवत यही सोच रहे थे कि अब यह दीक्षा की बात नही करेगा, क्योकि अभी तक राजसिंहासन से दूर था, अब तो महासम्राट बना बैठा है। राजसिंहासन पर विराजमान सम्राट गजसुकुमार से पूछा गया—

"महाराजाधिराज! कहिए, अब हमारे लिए क्या आज्ञा है?"

नये राजा से ऐसा निवेदन कर सब-के-सब सोच रहे थे कि नये राजा कुछ नई राज्य व्यवस्था बतायेंगे। राज्य मे कुछ नये निर्माण का आदेश देंगे, पर द्वारकाधीश गजसुकुमार ने एक विचित्र ही आदेश दिया—

"मेरे लिए दीक्षा की तैयारियां करो।" सबकी आशाओ पर पानी फिर गया। यह अन्तिम अस्त्र भी विफल हो गया। गजराज को कच्चे धागे से कौन बाँध पाया है। वासुदेव कृष्ण ने सोचा, इसका वैराग्य पक्का है, प्रलोभनो से यह दबने वाला नही। इसे रोकना व्यर्थ है, यह सोचकर भाई की दीक्षा का प्रबन्ध किया। गजसुकुमार महाबल के समान दीक्षा अगीकार कर अनगार बन गए और ईर्यासमिति आदि से युक्त होकर सभी इन्द्रियो को अपने वश मे करके गुप्त ब्रह्मचारी बन गए।

परम्परागत कथाओ मे कहा गया है—दीक्षा लेते समय माता देवकी ने अपने प्यारे पुत्र से कहा—"बेटा, जिस प्रकार तू मुझे पुत्र-विरह की व्यथा से दुखी बना रहा है, वैसे फिर कभी किसी माता को दुखी मत बनाना। माता के इस कथन को गजसुकुमार ने हृदयगम कर लिया—मैं अब ऐसी उग्र और कठोर साधना करूंगा कि मुझे दूसरा जन्म ही न लेना पडे अर्थात् इसी जन्म मे मोक्ष प्राप्ति कर लूंगा, तभी माता का आशीर्वाद सफल होगा। यही सकल्प उनके मन मे वज्र-सा दृढ़ हो गया।

गजसुकुमार जिस दिन प्रव्रजित हुए थे, उसी दिन, दिन के चौथे प्रहर भगवान

अरिष्टनेमि के पास आकर तीन वार विधि युक्त वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार वोले—

"हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मैं श्मशान मे जाकर एक रात्रि की महा-प्रतिमा (भिक्षु प्रतिमा) स्वीकार करूँ, अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि ध्यानस्थ खडा रहूँ।"

इस पर भगवान ने कहा—

"अहासुह देवाणुप्पिया!" अर्थात् हे देवानुप्रिय, जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो।

इस प्रकार भगवान से आज्ञा प्राप्त कर गजसुकुमार मुनि ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्रवन से निकलकर महाकाल श्मशान मे पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होने कायोत्सर्ग करने के लिए प्रासुक भूमि तथा उपचार-प्रस्रवण (गुरुनीत, लघुनीत) परिठवने योग्य भूमि की प्रतिलेखना की। तदनन्तर काया को कुछ नमाकर, चार अगुल के अन्तर से दोनो पैरो को सिकोडकर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार कर ध्यानस्थ खड़े हो गये।

गजसुकुमार को सिद्धि प्राप्त करने की भावना कैसी तीव्र और उत्कट थी। महाकाल श्मशान का वातावरण देखिये। चारो ओर भयावह सन्नाटा है, मुर्दे जल रहे हैं। लोमडी, शृगाल, व्याघ्र आदि हिंसक जानवरो की कमी नही है, पर यह अमर साधक तो प्रतिज्ञा करके ध्यान मे लीन है—"कार्यं साधयामि देह वा पातयामि।" कार्य साधकर ही रहूँगा, भले ही देह गल-गल कर समाप्त हो जाए। परन्तु सिद्धत्व प्राप्त किये विना यहाँ से तिल भर भी नहीं हटूँगा।"

देहाध्यास की झूठी प्रतीति को गजसुकुमार त्याग चुका है। 'यह देह गज-सुकुमार है,' ऐसी मिथ्या भ्रान्ति उसे अव नही है। दीक्षा के पहले दिन ही वह समस्त भूमिकाओ को पार कर लेना चाहता है और माता का कथन सार्थक कर देता है। आज तो दीक्षा दिन के वाद की पहली रात्रि ही है। गजसुकुमार ने शास्त्र भी नही पढे, द्वादशागी का एक अक्षर भी नही सीख पाया। साधु जीवन की क्रियाओ से भी वह अनभिज्ञ जैसा था। फिर भी वह सव कुछ सीख गया था। उसने भगवान का प्रवचन सुनकर ही सव कुछ पढ और सीख लिया था। प्रभु का धर्मोपदेश ही उसके लिए आचाराग सूत्र था और वही उसका दृष्टिवाद था। भगवान ने नवदीक्षित अनगार को आत्म-कल्याण हेतु वस, भिक्षु की वारहवी पडिमा बताई। उसकी साधना के लिए वह अभिनव साधक गजसुकुमार महाकाल श्मशान भूमि मे गया और मन को एकाग्र करके 'करने-मरने' का दृढ सकल्प लेकर ध्यानस्थ खडा हो गया। समता-योग की उत्कट साधना मे वह लीन होगया।

शिर पर अंगारे

जव अनगार गजसुकुमार महाकाल श्मशान मे ध्यान करने के लिए पहुँचे तो उनसे कुछ समय पूर्व सोमिल ब्राह्मण हवन के निमित्त समिधा, दर्भ-कुश आदि

लाने के लिए द्वारका नगरी से बाहर निकला। समिधा, दर्भ-कुश आदि लेकर वह महाकाल श्मशान से लौटकर घर आ रहा था। सध्या रात्रि मे बदलती जा रही थी। दिशाएँ धूमिल होने लग गई थीं। सोमिल ने ध्यानस्थ मुनि गजसुकुमार को देखा तो उसका पूर्वभव का वैर जाग्रत हो गया। इस पूर्वभव के वैरोदय मे उसकी पुत्री सोमा निमित्त कारण बन गई थी, क्योंकि सोमा गजसुकुमार की मगेतर थी और गजसुकुमार सोमिल विप्र की कन्या सोमा को अनब्याही छोडकर दीक्षित हो गया था। ध्यानस्थ गुजसुकुमार को देख सोमिल विप्र इस प्रकार बडबडाने लगा—

"अरे ! यह वही निर्लज्ज और मृत्यु को चाहने वाला गजसुकुमार है। यह पुण्यहीन और दुर्लक्षणो से युक्त है। मेरी भार्या सोमश्री की अगजात एव मेरी निर्दोष पुत्री सोमा, जो यौवनावस्था को प्राप्त है, उसको अकारण ही छोडकर यह साधु बन गया है। मेरी पुत्री के सुख एव सौभाग्य का मधुवन इसने उजाड दिया है।"

इस प्रकार बडबडाते-बडबडाते सोमिल का पूर्व वैर उग्रतम होने लगा। उसने सकल्पात्मक विचार किया—

"अब तो यही उचित है कि मैं इससे अपने वैर का बदला लूँ। इस दुष्ट अपराधी को कडी सजा दूँ ताकि अपने वैर का बदला ले सकूँ।

यह निश्चय कर उसने चारो ओर देखा कि कोई आता-जाता तो नही है। कोई देख तो नही रहा है, पाप और अन्याय सदा एकान्त चाहता है। हाँ तो, सोमिल भी चोर की भाति चारो ओर देखने लगा, जब देखा कि दूर-दूर तक कही मनुष्य की छाया भी नही है, तो वह निकट के तालाब से गीली मिट्टी लाया और गजसुकुमार के सिर के चारो ओर मिट्टी की पाल बाँध दी। उसके बाद वह एक जलती हुई चिता के पास पहुँचा और वहाँ से फूले हुए (लाल) टेसू के समान खैर की लकडी के दहकते लाल-लाल अगारो को एक ठीकरे मे भर कर ले आया और उन दहकते अगारो को मुनि गजसुकुमार के सिर पर रख दिया। यह घोर अत्याचार करते उस पापी का हाथ भी नही कापा। अपना कार्य पूर्ण करके 'मुझे कोई देख न ले' इस भय से इधर-उधर देखता हुआ, जिस ओर से आया था, उसी दिशा को चला गया।

सोमिल द्वारा रखे गये दहकते अगारो से मुनि गजसुकुमार को तीव्र वेदना हुई। उनका खून उबलने लगा, मास जलने लगा। ज्यो-ज्यो वेदना बढती जाती थी, उनका देहाध्यास समाप्त होता जाता था। ऊपर सिर पर अगारे अवश्य जल रहे थे, पर उनके अन्दर के कषायो की ज्वाला तो पूरी तरह बुझ चुकी थी। कषायो की अग्नि तो बडी भयकर होती है। यही अग्नि राज्यो का विध्वस करती है, इसी अग्नि से वीभत्स युद्ध होते हैं और यही अग्नि मनुष्य को नरक का द्वार भी दिखाती है। मुनि गजसुकुमार के हृदय मे तो शान्ति का अनन्त सागर लहरा रहा था। सोमिल के प्रति उनके मन मे लेशमात्र भी द्वेष नही था, बल्कि वे तो सोमिल के आभारी थे, क्योकि सोमिल उनको सिद्धत्व प्राप्त कराने मे सहायक बनकर आया था। मुनि

गजसुकुमार अपार और असह्य वेदना के होते हुए भी अविचल और अडिग खड़े हैं। उनकी दृष्टि और मन मे अपूर्व सौम्यता-समता है। ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण तथा माता देवकी और पिता वसुदेव के प्रति उनकी जो भावना है, वही भावना सिर पर अगारे रखने वाले सोमिल ब्राह्मण के प्रति भी है। क्षमा का यह साक्षात् प्रतिरूप गजसुकुमार हमे बता रहा है कि यह देह आत्मा से भिन्न है। तुम्हारी आत्मा अजर-अमर है। शरीर के जलने से आत्मा नही जल सकती। तुम अपने अपराधी पर तनिक मात्र भी रोष मत करो, अपराधी व्यक्ति नही, कर्म है, जो स्वय तुमने किये है। गजसुकुमार के सिर की आग निरन्तर बढती जा रही थी और राग-द्वेष, तथा काम-क्रोध की आग बुझ रही थी। क्षमामूर्ति गजसुकुमार ने अपनी शक्ति का उपयोग पथभ्रष्ट ब्राह्मण सोमिल को भस्म करने मे नही किया, बल्कि कर्म-कचरे को जलाने में किया।

इस प्रकार मुनि गजसुकुमार समभाव पूर्वक सिर पर जलती अग्नि की महा-वेदना को सहन करने लगे और शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसायो तथा तदावरणीय कर्मों के नाश से कर्म-विनाशक अपूर्वकरण मे प्रवेश किया, जिससे उनको अनन्त, प्रधान बाधारहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। तदनन्तर समस्त कर्मों का क्षय हो जाने के कारण अनगार गजसुकुमार कृत-कृत्य बनकर 'सिद्ध' पद को प्राप्त हुए और लोकालोक के सभी पदार्थों के ज्ञान से 'बुद्ध' हुए। सभी कर्मों के छूट जाने से वे परिनिर्वात अथवा शीतलीभूत हुए। शारीरिक तथा मानसिक सभी दु खो से रहित होने के कारण 'सर्व दु ख-प्रहीण' हुए, अर्थात् अनगार गजसुकुमार मोक्ष को प्राप्त हो गए।

मुनि गजसुकुमार ने चारित्र का सम्यक् आराधन किया अदभुत समत्व की साधना की और एक ही दिन की चारित्र पर्याय मे मोक्ष प्राप्त कर लिया। इस निर्वाण महोत्सव पर देवो ने अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा दिव्य सुगन्धित अचित्त जल और पाँच वर्णों के अचित्त फूलो एवं वस्त्रो की वर्षा की और दिव्य मधुर गायन एव वाद्यो की ध्वनि से आकाश को गुंजा दिया।

बन्धुओ ! सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधको को जीवनभर दीक्षा-पर्याय का पालन करना पडता है, शास्त्र पढने पडते है, तब कही उन्हें सिद्धि मिल पाती है, फिर भी यह जरूरी नही कि हर साधक को एक ही भव मे सिद्धत्व प्राप्त हो जाए। लेकिन अनगार गजसुकुमार को जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन की एक रात मे सिद्धि मिल गई, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए—मोक्ष को प्राप्त हो गए। यह सब लगन और उत्कट भावना का ही परिणाम था—'करूँगा या मरूँगा' की दृढ प्रतिज्ञा को लेकर ही वे ध्यानस्थ हुए थे और अन्तत सिद्धत्व प्राप्त करके ही माने। उनकी साधना का प्रमुख केन्द्र यही था—समत्व साधना।

हत्यारे की खोज

जिस रात मुनि गजसुकुमार को मोक्ष प्राप्त हुआ, उस रात के बाद जब

सूर्योदय हुआ तो स्नानादि से निवृत्त होकर यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र ने वस्त्राभूषण धारण किये और गजराज पर आरूढ होकर द्वारका नगरी के मध्य राजमार्ग से भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने चले। उनका कण्ठ कोरण्ट फूलो की माला से शोभित था। सिर पर छत्र शोभा पा रह था और उनके दायें-बायें दोनो ओर श्वेत चामर डुलाये जा रहे थे। ऐसे शोभा सम्पन्न द्वारकाधीश यादवेन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र के साथ अगणित सुभटो का समूह चल रहा था।

जब श्री कृष्ण गजारूढ होकर सुभटो के समूह के साथ द्वारका के राजमार्ग से गुजर रहे थे, तब उन्होंने एक वृद्ध को अपने द्वार से घर के भीतर ईंटें ले जाते हुए देखा। इस वृद्ध के घर के सामने ईंटो का ढेर लगा हुआ था, वह एक-एक ईंट उठाकर अपने घर के भीतर ले जा रहा था। वृद्धावस्था के कारण वृद्ध का शरीर बहुत जर्जर हो रहा था। उसकी दृष्टि क्षीण हो चुकी थी। पैरो मे चलने की शक्ति नष्टप्राय थी। हाथो मे उठाने-धरने की शक्ति भी नाममात्र को थी। ऐसा वह वृद्ध कांपते हाथो से एक ईंट उठाता था और धीरे-धीरे चलकर ईंट को घर के भीतर पहुंचा आता था। उसका यह कार्य उसकी विवशता, असहायावस्था और साथ ही कार्य की अनिवार्यता को प्रकट कर रहा था।

उस दु खी-असहाय और विवश वृद्ध को इस प्रकार एक-एक ईंट ले जाते देखकर कृष्ण वासुदेव के मन मे अनुकम्पा हुई। सहयोग की भावना जागी। अपने पद का अहकार त्याग कर के सरल करुणापूरित हृदय से उन्होंने स्वय अपने हाथ से एक ईंट उठाई और वृद्ध के घर मे रख दी। अपने स्वामी द्वारा इस प्रकार ईंट उठाकर रखने की क्रिया देख उनके साथ के सुभटो ने भी श्री कृष्ण का अनुकरण किया, और देखते-देखते सभी सुभटो ने ईंट का सारा ढेर वृद्ध के घर यथास्थान पहुंचा दिया। ससार की रीति यही है—**यद्यदाचरति श्रेष्ठो लोकस्तदनुवर्तते**—वडे आदमी जो आचरण करते हैं, सामान्य-जन उनका अनुसरण करता है। इसलिए श्रेष्ठ और योग्य कार्यों मे बडो को सदा पहल करनी चाहिए। हां, तो इस प्रकार श्री कृष्ण के एक ईंट उठाने मात्र से उस वृद्ध का बार-बार चक्कर काटने का कष्ट दूर हो गया। वृद्ध का कार्य सम्पन्न कर यादवेन्द्र कृष्णचन्द्र भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण मे नन्दनवन पहुंचे। भगवान को वन्दन-नमस्कार कर उन्होने नवदीक्षित लघुभ्राता गजसुकुमार को वन्दनादि के लिए इधर-उधर देखा। जब उन्हे कही भी गजसुकुमार दिखाई नही दिये तो उन्होंने आतुरतापूर्वक भगवान से पूछा—

"हे भगवन्! मेरा सहोदर लघुभ्राता नवदीक्षित गजसुकुमार कहाँ है? मैं उनको वन्दन-नमस्कार करना चाहता हूँ।"

भगवान ने बताया—"**साहिए णं कण्हा! गयसुकुमालेण अणगारेण अप्पणो अटठा।**

हे कृष्ण ! गजसुकुमार अनगार ने जिस आत्म अर्थ के लिए संयम स्वीकार किया था, उसने वह आत्मार्थ सिद्ध कर लिया है। वह कृत कार्य हो गया।

भगवान के इस कथन पर श्री कृष्ण को बहुत आश्चर्य हुआ। उत्सुकतावश उन्होंने श्री प्रभु से पूछा—

"हे प्रभो ! जिसने कल ही प्रव्रज्या ग्रहण की थी, उस गजसुकुमार अनगार ने इतनी जल्दी अपना प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध कर लिया ?"

कृष्ण-वासुदेव के इस प्रकार पूछने पर भगवान ने बताया—

"कल दीक्षा लेने के बाद चौथे प्रहर मे अनगार गजसुकुमार ने मेरे सामने अपनी यह इच्छा प्रकट की थी कि वह मेरी आज्ञा से महाकाल श्मशान मे एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा की आराधना करना चाहता है। हे कृष्ण ! उसकी ऐसी शुभ इच्छा देखकर मैंने कहा—'जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।' इस प्रकार मेरी आज्ञा प्राप्त कर गजसुकुमार अनगार श्मशान मे जाकर कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ध्यानावस्थित होकर खड़े रहे।

"हे कृष्ण ! जब मुनि गजसुकुमार ध्यान मे खड़े थे, तभी एक पुरुष वहाँ आया। गजसुकुमार अनगार को देखते ही उसके मन मे वैर भाव जाग्रत हुआ और क्रोधातुर होकर उस पुरुष ने तालाब की गीली मिट्टी से उनके सिर के चारो ओर पाल बाँध दी। उसके बाद जलती हुई चिता से खैर के दहकते हुए अगारे एक ठीकरे मे भरकर मुनि गजसुकुमार के सिर के ऊपर रख दिये। दहकते अगारो से अनगार गजसुकुमार को असह्य वेदना हुई, लेकिन इतने पर भी उस घातक पुरुष के प्रति उनके मन मे तनिक भी द्वेषभाव नही आया। वे समभाव पूर्वक उस भयकर वेदना को सहन करते रहे और शुभ परिणाम तथा शुभ अध्यवसाय से केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गए। इसलिए हे कृष्ण ! गजसुकुमार अनगार ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया।"

भगवान अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने भाई की ऐसी मृत्यु सुनकर कृष्ण को क्रोधजनित दु:ख हुआ। उन्होंने भगवान से पूछा—

"हे प्रभो ! मृत्यु को चाहने वाला, लज्जा आदि से रहित वह पुरुष कौन है, जिसने मेरे सहोदर लघुभ्राता गजसुकुमार अनगार को अकाल मे ही काल का ग्रास बना दिया है ?"

श्रीकृष्ण के क्षोभ को लक्ष्यकर भगवान अरिष्टनेमि ने शाति का उपदेश देते हुए कहा—

"हे कृष्ण ! तुम उस पुरुष पर क्रोध मत करो, क्योंकि उस पुरुष ने गजसुकुमार अनगार को मोक्ष प्राप्त करने मे सहायता दी है। तेणं पुरिसेणं गजसुकुमालस्स अणगारस्स साहिज्जे दिण्णे।" अपने लक्ष्य को पाने मे वह मुनि गजसुकुमार का सहयोगी और उपकारी बना है।"

इस पर श्रीकृष्ण ने पूछा—"प्रभो ! उस पुरुष ने गजसुकुमार को सिद्धि प्राप्त करने मे क्योकर और कैसे सहायता दी ?"

कृष्ण के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान समझाते हुए बोले—

"हे कृष्ण ! जब तुम अपने सुभटो सहित गजारूढ होकर मेरे पास आ रहे थे, तब तुम्हे द्वारका के मध्य राजमार्ग मे एक वृद्ध पुरुष मिला था, जो अपने कांपते हाथो से एक-एक ईंट उठा करके भीतर ले जा रहा था। उस पर अनुकम्पा करके तुमने ईंटो के ढेर मे से एक ईंट उठाकर वृद्ध के घर मे पहुँचा दी थी। तुम्हारी देखा-देखी तुम्हारे अनुचर सुभटो ने भी ईंटें उठाईं और पूरा ढेर वृद्ध के घर पहुँचा दिया। हे कृष्ण ! तुम्हारे इस अनुकम्पाजनित सेवाकार्य से वृद्ध का कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो गया।

"हे कृष्ण ! जिस प्रकार तुमने उस वृद्ध पुरुष की सहायता की, उसी प्रकार उस पुरुष ने गजसुकुमार के सिर पर दहकते अगारे रखकर गजसुकुमार की सहायता की, "**अणेगभवसय सहस्ससचियकम्म उदीरेमाणेण बहुकम्मणिज्जरट्ठ साहिज्जे दिण्णे।**" क्योकि उस पुरुष के इस कार्य ने गजसुकुमार के लाखों भवो मे सचित किये हुए कर्मों की एकान्त उदीरणा करके उनका सम्पूर्ण क्षय करने मे सहायता दी है।"

भगवान के इस समाधान के अनन्तर कृष्ण को उस पुरुष का परिचय, नाम आदि जानने की उत्सुकता हुई। अत कृष्ण ने भगवान से पूछा—

"हे भगवन् ! मैं उस पुरुष को किस प्रकार जान सकूँगा ?"

भगवान ने बताया—

"हे कृष्ण ! जब तुम मेरे पास से वापस लौटोगे और द्वारका नगरी मे प्रवेश करोगे तभी तुम्हें एक पुरुष मिलेगा। तुम्हे देखते ही वह पुरुष अपना आयु पूर्ण कर तुम्हारे सामने ही खडा-खडा मृत्यु को प्राप्त होगा। उस पुरुष को ही तुम वह पुरुष समझना।"

भगवान अरिष्टनेमि से सब तरह का समाधान प्राप्त कर कृष्ण ने उन्हे वन्दन नमस्कार किया और आभिशेक्य हाथी पर बैठकर द्वारका नगरी मे अपने भवन की ओर जाने लगे।

इधर सोमिल ब्राह्मण गजसुकुमार के सिर पर गीलीमिट्टी की पाल बाँधकर और सिर पर दहकते अगारे रखकर घर लौट आया तो प्रात काल उठकर उसने विचार किया—'कृष्ण-वासुदेव भगवान अरिष्टनेमि की वन्दना करने गये हैं। भगवान् ने कृष्ण को मेरे द्वारा किये गये कार्य का वृत्तान्त श्री कृष्ण को अवश्य बता दिया होगा, क्योकि भगवान अरिष्टनेमि तो अन्तर्यामी है और सब कुछ जानते हैं। मेरे इस कार्य से पूर्ण समर्थ कृष्ण-वासुदेव न जाने मुझे किस मौत मारें।' यह सोच कर उसने निश्चय किया कि कृष्ण-वासुदेव तो गजारूढ होकर राजमार्ग से लौटेंगे, अत मुझे गली-कूचो मे होकर ही द्वारका नगरी को छोडकर भाग जाना चाहिए।

ऐसा निश्चय कर सोमिल ब्राह्मण अपने घर से निकला और गली के रास्ते से भागने लगा।

इधर कृष्ण-वासुदेव भी अपने सहोदर लघुभ्राता गजसुकुमार अनगार की अकाल मृत्यु के शोक से व्याकुल होने के कारण राजमार्ग छोडकर गली के रास्ते से ही आ रहे थे। सयोगवश जिस गली से कृष्ण-वासुदेव आ रहे थे, उसी गली से भागते हुए सोमिल निकला। उसका सामना वासुदेव कृष्ण से हो गया। कृष्ण को सामने देख सोमिल स्तम्भित हो गया, क्योकि जिनके भय से वह द्वारका छोडकर भाग रहा था, वही कृष्ण अचानक उसके सामने आ गये। कृष्ण को देखकर सोमिल विप्र इतना भयभीत हुआ कि जडवत् जहाँ-का-तहाँ खडा रह गया। सोमिल की आयु क्षीण हो चुकी थी, वह खडा-खडा मृत्यु को प्राप्त हो गया और खडा-खडा ही धडाम से नीचे गिर पडा।

सोमिल को गिरते देख कृष्ण-वासुदेव ने अपने अनुचरो से कहा—

"हे देवानुप्रिय! जिस मृत्यु को कोई नहीं चाहता, उसी मृत्यु को चाहने वाला यह निर्लज्ज सोमिल ब्राह्मण है। इसने मेरे सहोदर लघुभ्राता गजसुकुमार अनगार को अकाल ही काल का ग्रास बना डाला।"

इतना कहकर श्रीकृष्ण ने सोमिल के शव को रस्सी से बंधवाया तथा चाण्डालो द्वारा घसीटवाकर नगर के बाहर फिकवा दिया और शव द्वारा स्पर्शित भूमि को पानी से धुलवाया। फिर कृष्ण वासुदेव अपने भवन पहुँचे।

बन्धुओ! अद्‌भुत समत्वयोगी मुनि गजसुकुमार का यह जीवन-वृत्त हमे समता क्षमा, तितिक्षा की प्रेरणा देता है। देहाध्यास से मुक्त होकर आत्म-लीनता का पाठ पढाता है और अपकारी को भी उपकारी समझकर सर्वत्र मैत्री भाव का अनुभव करने की शिक्षा देता है। क्षमामूर्ति गजसुकुमार की वन्दना करते हुए हमारे प्रात स्मरणीय आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज ने साधु वदना मे कहा है—

वसुदेवना नन्दन, धन-धन गजसुकुमाल।
रुपे अति सुन्दर कलावन्त वय बाल।६२।
श्री नेमि समीपे छोड्यो मोह जजाल।
भिक्षुनी पडिमा गया मसाण महाकाल।६३।
देखी सोमल कोप्यो, मस्तक बाँधी पाल।
खेरानां खीरा शिर ठविया असराल।६४।
मुनि नजर न खंडी मेटी मन नी झाल।
परीसह सहीने मुक्ति गया तत्काल।६५।

☆

७

सुमुख आदि राजकुमारों का भव-तरण

बंधुओ,

समता के महान साधक, क्षमा की साकार मूर्ति गजसुकुमार मुनि का जीवन-वृत्त आपने सुना। पर्युषण पर्व के दिनो मे ये चरित्र, ये पवित्र जीवन गाथाएँ सुनाने का उद्देश्य यही है कि हमारे हृदय मे समता, तितिक्षा और धीरता के ये सस्कार बद्ध मूल हो, इन सस्कारो के अंकुर पल्लवित हो, पुष्पित हो और समत्वयोग का अमर वृक्ष जीवन मे लहलहाने लगे।

अगले अध्ययनो मे मैं आपको त्याग-वैराग्य और तप के कुछ महान् श्रेष्ठ साधको की जीवन गाथाएँ भगवान की वाणी के माध्यम से सुनाऊँगा। इनमें कुछ भिन्न पात्र हैं, पर सभी साधक भगवान अर्हत् अरिष्टनेमि के चरणो में दीक्षित होते हैं, और सुदीर्घ साधना द्वारा आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि अपनी अमृतमय देशना से ससार को अमरता का सन्देश देते हुए जन-जन को भवसागर से पार करने हेतु धर्मरूपी नाव पर बैठाकर पार उतार रहे थे। उन्ही दिनो एक सौ आठ वर्ग योजन क्षेत्रफल वाली स्वर्ग-सदृश द्वारका नगरी में बलदेव नामक राजा रहते थे। यद्यपि द्वारका नगरी के शासन सूत्र का सचालन तो वासुदेव श्रीकृष्ण के हाथो मे ही था। अधिपति तो वे ही थे, किन्तु राज्य मे जो भी वीर और ज्येष्ठ पुरुष थे, वे भी 'राजा' कहलाते थे, सभी का वहाँ पूर्ण सम्मान था और सभी के अधिकार बँटे हुए थे। इसलिए बलदेव भी राजा कहलाते थे। बलदेव की धर्म मे प्रगाढ श्रद्धा थी। इनकी रानी का नाम धारिणी था। धारिणी सौम्य, सुशील, सुन्दर, सुकुमारी और पतिपरायणा थी। वह राजा बलदेव के समान ही धर्म मे रुचि लेने वाली और बलदेव नृपति की धर्मसगिनी भार्या थी।

एक बार रानी धारिणी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे एक स्वप्न देखा। स्वप्न मे उसने अपने समीप एक सिंह को बैठे हुए देखा। जब रानी की आँख खुली तो उसने सिंह दर्शन का स्वप्न राजा बलदेव को सुनाया। रानी का स्वप्न सुनकर राजा ने विचार किया कि रानी की कोख से एक सुन्दर और पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न होगा।

कालान्तर मे रानी धारिणी गर्भवती हुई। सयम-नियम और धर्माराधन करते हुए उसने गर्भकाल पूरा किया। इस प्रकार जब नौ महीने पूरे हुए तो राजमहिषी धारिणी ने एक सुन्दर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। राजा ने पुत्र का जन्मोत्सव मनाया

और उसका नाम 'सुमुख' रखा । सुमुख का बाल्यकाल बड़े सुख मे बीता । सुमुख का बचपन गौतमकुमार के समान ही लाड-प्यार और राजसी सुखो मे बीता ।

सुमुख जब युवा हुआ तो नृपति बलदेव ने उसका विवाह समान रूप, गुण-स्वभाव वाली पचास राजकन्याओ के साथ कर दिया । राजा बलदेव को प्रीति-उपहार में प्रचुर धन भी मिला । पचास सुन्दर रूपवती राजवधुओ के साथ सुमुख पुण्योपार्जित काम-सुखो का भोग करने लगा ।

उन्हीं दिनो जन-जन त्राता, भव-भय-तरण-तारण भगवान् अरिष्टनेमि द्वारका नगरी की जनता का कल्याण करने पधारे । वे रैवतगिरि पर अवस्थित हजार आम्र-वृक्ष वाले सहस्राम्रवन नाम से प्रसिद्ध नन्दन वन मे विचरण करने लगे । विशाल अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मसभा जुडी । द्वारका नगरी के अनेको नर-नारी भगवान के समवसरण मे पहुँचे । सुमुख ने उनकी धर्मदेशना सुनी तो समस्त कामसुखो को त्याग भगवान के पास दीक्षा धारण कर ली । तदनन्तर सुमुख ने चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन करने के बाद अन्त मे शत्रुंजय पर्वत पर एक मास का सथारा करके सिद्ध हुए ।

मुनि सुमुख की तरह इनके दो सहोदर भ्राता—दुर्मुख और कूपदारक भी हुए। इनके पिता का नाम भी बलदेव और माता का नाम धारिणी था । सुमुख की तरह इन्होंने भी युवावस्था मे सासारिक सुखो का भोग किया और समस्त सुखो को त्याग भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अगीकार की । सुमुख की तरह दुर्मुख और कूपदारक ने भी बीस वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन करके एक मास का सथारा करके सिद्धि प्राप्त की ।

द्वारका नगरी मे ही राजा वसुदेव और रानी धारिणी के आत्मज और अगजात दारुक हुए । ये वासुदेव श्रीकृष्ण के ही अनुज थे ।[1] इन्होंने भी सुमुख, दुर्मुख और कूपदारक की तरह सिद्धत्व प्राप्त किया । इस प्रकार सुमुख, दुर्मुख, कूपदारक और दारुक ने भगवान अरिष्टनेमि की शरण मे रहकर धर्मनौका पर बैठकर भव पारावार को पार कर लिया । इन सबके समान ही वसुदेव-धारिणी के पुत्र अनाधृष्टि कुमार का भी वर्णन है । उन्होंने भी सुमुख, दारुक आदि की तरह सिद्धत्व प्राप्त किया ।

अतगड दसासूत्र, वर्ग ३ अध्ययन ९ (सुमुख) का
,, १० (दुर्मुख) का
,, ११ (कूपदारुक) का
,, १२ (दारुक का)
,, १३ (अनाधृष्टि कुमार) का समाप्त

---

१ दारुक के जीवन का एक घटना प्रसग जो क्रोध विजय से सम्बन्धित है, उत्तरा० अ २ की वृत्ति मे प्राप्त होता है । परिशिष्ट १ मे यह प्रसग दिया गया है ।

८

वसुदेव-धारिणी के पुत्र तथा कृष्ण वासुदेव के पौत्र-पुत्रों का भव-भय-तरण

बारह योजन चौडी तथा नौ योजन लम्बी अलका नगरी के समान सुन्दर द्वारका नगरी मे राजा वसुदेव तथा वासुदेव कृष्ण का राज्य था। वसुदेव की रानी धारिणी परम रूपवती व पतिपरायणा थी। एक रात, जब धारिणी सुख शय्या पर निद्रासुख मे डूबी हुई थी, तब उसने स्वप्न मे एक सिंह को देखा। रानी धारिणी ने सिंह स्वप्न का वृत्तान्त राजा वसुदेव को बताया। यह स्वप्न शुभ परिणामी—पुण्यात्मा पुत्र के आगमन का सूचक था। यथासमय रानी धारिणी गर्भवती हुई और सयम-नियम से सवा नौ महीने पूरे करके उसने एक सुन्दर-सुकुमार पुण्यात्मा पुत्र को जन्म दिया। वसुदेव ने अपने वैभव के अनुरूप पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम जालिकुमार रखा। जालिकुमार ने बडे लाड-प्यार और सुखो मे अपना बचपन बिताया और फिर यौवन के द्वार पर पग रखा।

जब जालिकुमार विवाह-योग्य हुआ तो नृपति वसुदेव ने पचास राजकन्याओ के साथ उसका विवाह सम्पन्न किया। कन्याओ के पिताओ ने राजा वसुदेव को प्रीति-उपहार के रूप मे प्रचुर धन भी दिया। राजकुमार जालि अपनी पचास पत्नियो के साथ भोग-विलास मे रत रहकर पुण्योपार्जित सुखो का भोग करने लगा।

उन्ही दिनो तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि द्वारका पधारे। रैवतगिरि पर अवस्थित सहस्राम्रवन ग अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मसभा जुडी। हजारो नर-नारियों ने उनका उपदेश सुना। जालिकुमार ने उनका उपदेश सुना तो समस्त काम-भोगो और सांसारिक सुखो को उसी प्रकार त्याग दिया जैसे कोई रोगी—मिष्टान्नादि को विष समझकर त्याग देता है। प्रतिबुद्ध जालिकुमार ने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अगीकार करली और प्रभु की आज्ञा प्राप्त कर चारित्र का पालन करने लगा।

जालिकुमार अनगार ने बारह अगो का अध्ययन किया और सोलह वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन करते हुए अन्त में शत्रुजय गिरि पर एक मास का सथारा किया और सब कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

जालिकुमार अनगार के समान उन्हीं के सहोदर तथा वसुदेव-धारिणी के

आत्मज-अगजात—मयालि, उवयालि, पुरुषसेन और वारिसेन ने भी भगवान अरिष्ट-नेमि के पास दीक्षा लेकर भव पारावार पार किया।

इसी प्रकार वासुदेव कृष्ण की अनेक पटरानियो मे रुक्मिणी के अगजात प्रद्युम्नकुमार हुए। जाम्बन्ती के अगजात शाम्बकुमार हुए। कृष्ण वासुदेव के ये दोनो पुत्र भी भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हुये। इन्होंने भी बारह अगो का अध्ययन किया, सोलह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन किया और एक मास का सथारा करके शत्रुंजय पर्वत पर सिद्धि प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इसी प्रकार प्रद्युम्न के आत्मज और उनकी रानी वैदर्भी के अगजात अनिरुद्ध-कुमार ने भी मुक्ति प्राप्त की। अनिरुद्ध कुमार कृष्ण-वासुदेव के पौत्र थे।

इन सबकी तरह समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र सत्यनेमि और दृढ़नेमि ने भी ससार-सुखो को त्यागकर मुक्ति प्राप्ति की। ये दोनो अर्हत् अरिष्टनेमि के अनुज थे।

इन सभी का जन्म, जीवन और मरण एक जैसा ही है। इसलिए यहाँ सक्षेप मे नाममात्र सूचित किया गया है। ये अतगड सूत्र वर्ग ४ के १० कुमारो—जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन वारिसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, सत्यनेमि और दृढनेमि के क्रमश दस अध्ययन हुए।

अतगड दसा सूत्र, वर्ग ४, अध्ययन १ से १० तक समाप्त



९

महान नारियाँ

बंधुओ !

पिछले दिनो आपके सामने अतगड सूत्र के वाचन मे अनेक वीर राजकुमारो का वर्णन सुनाया गया । उनके तप, त्याग, क्षमा, तितिक्षा से भरे जीवन का प्रेरक चित्र भी आपके सामने आया ।

अब इस पाँचवें वर्ग मे दस महान नारियो की कठोर आत्म-साधना, उग्र तपश्चरण का लोमहर्षक वर्णन है । इनमे ८ तो वासुदेव श्रीकृष्ण की रानियाँ थी, सुख-वैभव और आनन्द से परिपूर्ण जीवन जी रही थीं । वासुदेव की रानी को भोग-विलास और सुख-सुविधा के साधनो की क्या कमी ? पर जिसका अन्त.करण जागृत होता है, वह ससार की क्षणभगुर सुख-सुविधाओ मे नही फँसता । भोग-विलास उसे भयकर कीचड और दलदल प्रतीत होता है, वह दलदल से, भोगो के दावानल से अपनी आत्मा को निकालने का प्रयत्न करता है ।

ये दस राज-रानियाँ भी सासारिक सुखो को छोडकर मुक्ति के मार्ग पर चलती हैं । नारी, तप-त्याग और सेवा के क्षेत्र मे सदा अग्रणी रही है । उसका आत्मबल पुरुष से कम नही है । भले ही वह शरीर से सुकुमार हो, अबला कहलाये, पर आत्मबल की दृष्टि से वह पुरुष से भी बढी-चढी सिद्ध हुई है । राजीमती जैसी सतियो का उदाहरण हम सुनते ही हैं । इस प्रकरण मे आपके सामने ऐसी ही दस महान् नारियो का जीवन चरित्र सुनाया जा रहा है, जिन्होंने उग्रतम तप साधना कर अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लिया, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं ।

उनकी कथाएँ इस प्रकार हैं—

कृष्ण-वसुदेव का आर्तध्यान तथा भगवान अरिष्टनेमि द्वारा शोक निवारण

स्वर्ण परकोटे से घिरी, रत्नजटित कगूरो से शोभित नगर शोभा में स्वर्ग से प्रतिस्पर्धा करने वाली—नौ योजन चौडी और बारह योजन लम्बी द्वारका नगरी मे कृष्ण वासुदेव राज्य करते थे । श्यामघन के समान नीले वर्ण वाले, महाप्रतापी धीर-वीर यादवेन्द्र कृष्ण वासुदेव के पद्मावती, रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्ववन्ती आदि अनेक रानियाँ थीं । सभी रानियाँ पतिअनुरक्ता और धर्मपरायण थी । श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और

शाम्बकुमार तथा पौत्र अनिरुद्धकुमार भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेकर सिद्धत्व प्राप्त कर चुके थे ।

द्वारका नगरी के वाहर रैवतगिरि पर अत्यन्त शोभाशाली एक विशाल उद्यान था, जो नन्दनवन के नाम से प्रसिद्ध था । एक सहस्र आम्रवृक्षो के कारण यही नन्दन वन सहस्राम्रवन भी कहलाता था । एक वार इसी नन्दनवन मे जन-जन-त्राता भगवान अरिष्टनेमि पधारे । द्वारका नगरी की जनता और राजपरिवार सहित कृष्ण वासुदेव भी भगवद्दर्शन करने सहस्राम्रवन पहुँचे । भगवान का आगमन सुन राजमहिषी पद्मावती भी अपनी पूज्य सास देवकी की तरह धर्मरथ पर चढ़कर प्रभुदर्शन को नन्दनवन गई । भगवान अरिष्टनेमि ने रानी पद्मावती, कृष्णवासुदेव तथा अन्य सभी श्रोताओ को धर्म कथा सुनाई । धर्मकथा की समाप्ति के वाद धर्म परिषद अपने-अपने घर आ गई ।

कृष्ण-वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार के अनन्तर पूछा—

इमीसे णं भते ! वारवइणयरीए दुवालसजोयण आयामा णवजोयण विच्छिण्णाए जाव पच्चक्ख देवलोगभूयाए किं मूलए विणासे भविस्सइ ?"

"भगवन् ! वारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी, देवलोक के समान सुन्दर इस द्वारका नगरी का विनाश किस कारण से होगा ?"

कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने कहा—

"हे कृष्ण ! वारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी, देवलोक के समान सुन्दर इस द्वारका नगरी का विनाश **सुरग्गिदीवायणमूलए विणासे भविस्सइ** ! मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण होगा ।"

भगवान के श्रीमुख से द्वारका नगरी के विनाश का कारण जानकर कृष्ण वासुदेव वड़े चिन्तित और दु:खी हुए । वे अपने विषय मे विचार करते हुए सोचने लगे—

'जालि, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिसेन, प्रद्युम्न, शाम्ब, अनिरुद्ध, दृढनेमि और सत्यनेमि आदि धन्य हैं, जिन्होंने अपने स्वजनो को त्यागकर और सम्पत्ति याचको को दान देकर भगवान अरिष्टनेमि के पास मुण्डित होकर प्रव्रजित हो गए । मैं अधन्य, अकृतपुण्य और अभागा हूँ जो राज्यसुख, अन्त पुर और सासारिक कामभोगो मे लिप्त हूँ । इन सवसे मुक्त होकर मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा नहीं ले सकता ।'

भगवान अरिष्टनेमि ने कृष्ण के मन के विचारो को जान लिया और आर्तध्यान में डूवे कृष्ण वासुदेव से प्रभु ने इस प्रकार कहा—

"हे कृष्ण ! तुम्हारे मन मे यह विचार उठ रहा है कि जालि, मयालि, उवयालि, प्रद्युम्न, शाम्व आदि धन्य हैं, जो स्वजन और सम्पत्ति को त्याग भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गये । मैं अधन्य, अकृतपुण्य और अभागा हूँ, जो राज्य-

सुख, अन्त पुर और सासारिक सुखो मे लिप्त हूँ। इन सबसे मुक्त होकर मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा नही ले सकता। हे कृष्ण ! क्या यह सत्य है ?"

कृष्ण ने कहा—

"प्रभो ! आपने जो कहा, सब सत्य है। भगवन् ! आप अन्तर्यामी हैं। आपसे कोई बात छिपी नही रह सकती।

फिर त्रिलोकीनाथ भगवान ने कृष्ण को बताया—

"हे कृष्ण ! तुम्हारा ऐसा सोचना उचित नही है, क्योकि शाश्वत नियमो को बदलने की शक्ति किसी मे नही है।

णो खलु कण्हा ! एवं भूए वा भव्वं वा भविस्सइ वा जण्णं वासुदेवा चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइस्संति।

हे कृष्ण ! ऐसा कभी नहीं हुआ, होता नही और होगा भी नही कि वासुदेव अपने भव में धन सम्पत्ति छोडकर प्रव्रजित हो जाए। वासुदेव दीक्षा लेते नही, ली नही और लेंगे भी नही।"

भगवान की ऐसी बात सुनकर कृष्ण ने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए प्रभु से पूछा—

"हे प्रभो। इसका क्या कारण है ? ऐसा क्यो नही होना, क्यो नही हुआ और क्यों नही होगा ?"

इस पर भगवान ने बताया—

एव खलु कण्हा ! सव्वे वि य ण वासुदेवा, पुव्वभवे णियाणकडा।

"हे कृष्ण ! सभी वासुदेव पूर्वभव मे निदानकृत (नियाणा करने वाले) होते हैं। इसलिए मैं ऐसा कहता हूँ कि ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नही और होगा भी नही कि वासुदेव अपनी सम्पत्ति को छोडकर दीक्षा लें।"

जब कृष्ण वासुदेव की इस शका का समाधान हो गया तो उनके मन मे दूसरी शका उठी। उन्होंने भगवान से पूछा—

"हे भगवन् ! मैं अपना आयुष्य पूर्ण करके यहाँ से कहाँ जाऊँगा और कहाँ उत्पन्न होऊँगा ?"

भगवान ने बताया—

"हे कृष्ण ! जैसा कि मैंने बताया सुरा अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण द्वारका नगरी का नाश हो जाएगा। सभी यादव और तुम्हारे माता-पिता भी द्वारका नाश के अनन्तर मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। तब तुम राम-बलदेव के साथ दक्षिण समुद्र के किनारे पाण्डु राजा के पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पांचो पाडवो के समीप पाण्डु-मथुरा की ओर जाओगे। इस प्रकार पाण्डु-मथुरा की ओर जाते हुए (मार्ग के) कोशाम्ब वन मे तुम एक विशाल वृक्ष के नीचे विश्राम

करोगे—पृथ्वी शिलापट्ट पर पीताम्बर ओढकर सो जाओगे। उस समय तुम्हारा बायां पैर दायें पैर के मुड़े हुए धनुषाकार घुटने पर रखा होगा। तुम्हारे बाएँ पैर को देख कर जराकुमार को मृग का भ्रम होगा। भ्रमवश वह बाण चलायेगा। जराकुमार द्वारा छोडा गया तीर तुम्हारे बाएँ पैर के तलवे मे लगेगा और तभी तुम मृत्यु को प्राप्त होगे। इस प्रकार मरकर तुम बालुका प्रभा नामक तीसरी पृथ्वी मे जन्म लोगे।"[1]

इस प्रकार अपना मरण और आगामी जन्म का वृत्तान्त जानकर कृष्ण वासुदेव आर्तध्यान करने लगे। यो कृष्ण को खिन्न व आर्तध्यान करते देख अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने उन्हें समझाया—

"हे कृष्ण ! तुम इस प्रकार आर्तध्यान मत करो। तुम (शीघ्र ही) उत्सर्पिणी काल मे इसी जम्बूद्वीप मे भरतक्षेत्र के पुण्ड्रजनपद के शतद्वार नगर मे 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे। वहाँ बहुत वर्षों तक केवल-पर्याय का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त करोगे।"

जब वासुदेव कृष्ण ने अपना सुखद भविष्य सुना तो हर्ष-विभोर होकर अपनी भुजा ठोकने लगे और हर्षावेश मे जोर-जोर से शब्द करने लगे। उन्होंने तीन चरण पीछे हटकर सिंहनाद किया। फिर भगवान को वन्दन-नमस्कार करके अभिषेक हस्ति-रत्न पर चढ़े और द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपने भवन पहुँचे। फिर स्वस्थ चित्त होकर नगर मे घोषणा कराई कि जो भी व्यक्ति भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहें, कृष्ण वासुदेव उस व्यक्ति के पीछे दीक्षित व्यक्ति के आश्रित परिवारी-जनो का भरण-पोषण करेंगे—उसके द्वारा छोडे गये समस्त उत्तरदायित्व का पालन करेंगे और मोक्ष कामी पुरुष का दीक्षा समारोह भी करेंगे। कृष्ण की इस घोषणा के बाद अनेक नर-नारियो ने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अगीकार की।

[अतगडदसा सूत्र, वर्ग ५, अध्ययन १ का पूर्वार्द्ध]



१ तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए जाव उववज्जिहिसि।

१०

महारानी पद्मावती द्वारा सिद्धत्व की प्राप्ति

वधुओ !

कल के प्रवचन मे द्वारिका के सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण वासुदेव की चिन्ता की चर्चा चली थी । मैंने बताया था कि—ससार को सत्य एव कल्याण मार्ग दिखाते हुए, जन-जन त्राता भगवान अरिष्टनेमि एक बार सहस्राम्रवन मे पधारे । उनके दर्शन-वन्दन करने द्वारकाधीश यादवेन्द्र कृष्ण वासुदेव तथा कृष्णप्रिया पद्मावती भी पहुँचे । नगर के अनेक नर-नारी तथा राजपरिवार के अन्य लोग भी भगवान की धर्मसभा मे उपस्थित हुए । भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई । प्रभु की धर्मकथा सुनने के बाद सभी लोग अपने-अपने घर लौट गए । महारानी पद्मावती भी अपने धर्मरथ मे बैठकर अपने भवन को आ गईं । मात्र वासुदेव कृष्ण भगवान के पास रह गए ।

कृष्ण वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि से द्वारका के विनाश का कारण पूछा तो प्रभु ने बताया कि मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण द्वारका का विनाश होगा । फिर कृष्ण वासुदेव ने इस बात का पश्चात्ताप किया कि जालिकुमार, मयालि, प्रद्युम्न आदि धन्य थे जो दीक्षा-पर्याय का पालन कर भवसागर से पार हो गए । मैं अपनी सम्पत्ति को त्यागकर प्रभु के पास दीक्षा अगीकार नही कर सकता । कृष्ण के मन का भाव जानकर अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने बताया कि हे कृष्ण ! चूंकि सभी वासुदेव निदानकृत (नियाणा करने वाले) होते हैं, इसलिए ऐसा कभी हुआ नही, होता नहीं, और होगा भी नही कि वासुदेव अपने मन में सम्पत्ति छोडकर प्रव्रजित हो जाय । वासुदेव दीक्षा लेते ही नही, ली नहीं और लेंगे भी नही । इतना जान लेने के बाद कृष्ण ने अपना आगामी भव पूछा तो भगवान ने बताया कि द्वारका के नाश के अनन्तर तुम राम-बलदेव के साथ पाण्डवो के पास पाण्डु-मथुरा जाओगे । उधर जाते हुए कोशाम्ब वृक्ष के वन मे एक विशाल वट वृक्ष के नीचे तुम पीताम्बर ओढकर धरती पर सोओगे । तब जराकुमार मृग के भ्रम मे तुम्हारे बाएँ पैर मे बाण मारेगा । इस प्रकार आयुष्य पूर्ण कर तुम बालुका प्रभा नामक तीसरी पृथ्वी मे जन्म लोगे । कृष्ण वासुदेव अपने आगामी भव का हाल जानकर आर्तध्यान करने लगे । तब अन्तर्यामी भगवान अरिष्टनेमि ने कृष्ण वासुदेव से कहा—

"हे कृष्ण ! तुम आर्तध्यान मत करो। तीसरी पृथ्वी से निकलकर तुम (शीघ्र ही) आगामी उत्सर्पिणी काल मे इसी जम्बूद्वीप मे भरत क्षेत्र के पुण्ड्रजनपद के शतद्वार नगर मे 'अमम' नाम के बारहवें तीर्थंकर बनोगे। वहाँ बहुत वर्षों तक केवल-पर्याय का पालन कर सिद्ध पद प्राप्त करोगे।"

इस प्रकार जब कृष्ण वासुदेव ने भगवान अरिष्टनेमि के श्रीमुख से अपना सुखद भविष्य सुना तो वे हर्षातिरेक मे भरकर अपनी भुजाओ को ठोकने लगे और तीन चरण पीछे हटकर हर्षावेश मे उन्होंने सिंहनाद किया। तदनन्तर भगवान को वन्दन-नमस्कार कर अभिषेक हस्तिरत्न पर चढकर द्वारका नगरी के मध्य होते हुए अपने भवन पहुँचे। उसके बाद वे अपने स्वर्णसिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठे और राज सेवको को बुलाकर अपनी आज्ञा सुनाते हुए बोले—

"हे देवानुप्रिय ! इस द्वारका नगरी के चौराहो आदि सभी स्थानो पर मेरी इस आज्ञा को प्रसारित करो—

'बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी, देवलोक के समान इस द्वारका नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन ऋषि के कारण होगा। अत द्वारका का कोई भी व्यक्ति—राजा, युवराज, स्वामी, मन्त्री, तलवर, माडविक (छोटे गाँव का स्वामी), कौटुम्बिक (दो-तीन कुटुम्बो का स्वामी), इभ्यसेठ, रानी, कुमार-कुमारी—जो भी भगवान अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा लेना चाहें, उन्हे कृष्ण-वासुदेव दीक्षा लेने की आज्ञा देते हैं। दीक्षा लेने वाला अपने पीछे जो भी उत्तरदायित्व छोड़ेगा, बाल, वृद्ध, स्त्री जो भी उसके पीछे रह जायेंगे, कृष्ण वासुदेव उन सबका भार सँभालेंगे। दीक्षा लेने वाले का दीक्षा महोत्सव भी बड़े समारोह के साथ कृष्ण-वासुदेव अपनी ओर से करेंगे।'

"हे देवानुप्रिय ! मेरी इस आज्ञा की घोषणा दो-तीन बार करके मुझे सूचित करो।"

राजसेवकों ने कृष्ण की आज्ञानुसार दो-तीन बार पूरी द्वारका मे उनकी घोषणा प्रसारित करदी और उसकी सूचना यादवेन्द्र कृष्ण-वासुदेव को दे दी।

पद्मावती को वैराग्य

कृष्णप्रिया महारानी पद्मावती ने जब भगवान अरिष्टनेमि से धर्म उपदेश सुना तो प्रतिबुद्ध होकर भगवान से प्रार्थना की—

"प्रभो ! आपका उपदेश यथार्थ है। जैसा आप कहते हैं, वही तत्त्व है, वही सार है—शेष सब मिथ्या और निस्सार है। मैं द्वारकेश कृष्ण-वासुदेव से अनुज्ञा लेकर आपके समीप दीक्षा लेना चाहती हूँ।"

भगवान अरिष्टनेमि ने कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हारी आत्मा को सुख हो, वैसा करो, पर धर्म कार्य मे प्रमाद अथवा विलम्ब मत करो।"

इस प्रकार प्रभु की अनुमति प्राप्त कर रानी पद्मावती धर्म रथ मे बैठकर द्वारका के मध्य होती हुई अपने भवन को लौटी। फिर कृष्ण-वासुदेव के समीप गई और दोनो हाथ जोड इस प्रकार विनययुक्त वाणी मे बोली—

"हे देवानुप्रिय! मैं भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेना चाहती हूं। सो आप मुझे दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करें।"

पद्मावती की अभिलाषा सुनकर कृष्ण-वासुदेव ने कहा—

"हे देवानुप्रिये! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा कार्य करो।"

अपनी प्रिया महारानी पद्मावती को दीक्षानुमति प्रदान करने के अनन्तर कृष्ण वासुदेव ने राजसेवको को दीक्षा प्रवन्ध की आज्ञा प्रदान करते हुए इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! पद्मावती देवी के लिए दीक्षा महोत्सव की तैयारी करो और तैयारी हो जाने पर मुझे शीघ्र ही सूचित करो।"

राजपुरुषो ने कृष्ण वासुदेव के वैभव के अनुकूल दीक्षा महोत्सव की सब व्यवस्था की और यथासमय द्वारकेश श्री कृष्णचन्द्र को सूचित किया। जब सब व्यवस्था पूर्ण हो गई तो कृष्ण वासुदेव ने देवी पद्मावती को पाट (चौकी) पर बैठाकर एक सौ आठ स्वर्ण कलसो से स्नान कराया, फिर दीक्षा अभिषेक किया और सब अलंकारो से अलकृत करके हजार पुरुषो द्वारा उठाई जाने वाली पालकी मे बिठाकर बड़े भारी जनसमूह के साथ द्वारका नगरी के मध्य होते हुए रैवतगिरि पर स्थित सहस्राम्रवन मे ले गये। यथास्थान पालकी रोककर रानी पद्ममावती नीचे उतरी। फिर पद्मावती को आगे करके कृष्ण वासुदेव भगवान अरिष्टनेमि के निकट आये। तदनन्तर भगवान को वन्दन नमस्कार कर इस प्रकार विनीत वचन बोले—

"हे भगवन्! यह पद्मावती देवी मेरी पटरानी है। यह मेरे लिए इष्ट, कान्त, मनोज्ञ और मेरे मन के अनुकूल कार्य करने वाली है। हे प्रभो! यह अभिराम और मुझे अपने श्वासोच्छ्वास के समान प्रिय है और मेरे हृदय को आनन्दित करने वाली है। और अधिक क्या कहूं, पद्मावती—जैसे स्त्रीरत्न गूलर के फूल के समान सुनने के लिए भी दुर्लभ है, देखने की बात तो बहुत दूर है। हे भगवन्! ऐसी पद्मावती को मैं आपको शिष्यारूप भिक्षा में देता हूं। आप मुझ पर अनुग्रह करके इस शिष्यारूप भिक्षा को स्वीकार करें।"

किसी को बधन मे न बांधने की इच्छा वाले और सबको बन्धन मुक्त करने वाले भगवान अरिष्टनेमि ने इस प्रकार कहा—

"जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसा करो।"

इसके बाद ईशान कोण मे जाकर पद्मावती देवी ने अपने हाथो द्वारा अपने शरीर के सभी आभूषण उतार दिये और अपने ही हाथो से अपने केशो का पचमुष्टि लुचन किया। तदनन्तर भगवान के पास आकर उन्हे वन्दन नमस्कार किया और इस प्रकार विनीत वचन बोली—

"हे प्रभो ! यह ससार जन्म, जरा और मरण आदि दु खरूपी अग्नि से जल रहा है। सो प्रभो ! इस दुख-समूह से छुटकारा पाने के लिए मैं आपसे दीक्षा अगीकार करना चाहती हूँ। अत प्रभो ! कृपा करके मुझे प्रव्रजित कीजिए और चारित्र धर्म सुनाकर कृतार्थ कीजिए।"

पद्मावती देवी की प्रार्थना सुनने के बाद भगवान अरिष्टनेमि ने पद्मावती को प्रव्रजित और मुण्डित करके 'यक्षिणी आर्या' की शिष्या बनाकर उन्हे सौंप दिया। यक्षिणी आर्या ने शिष्या पद्मावती को प्रव्रजित किया और सयम क्रिया मे सावधान रहने की शिक्षा देते हुए कहा—

"साध्वी पद्मावती ! तुम सयम मे सदा जागरूक और सावधान रहना। सयम से डिगने वाला व्यक्ति कहीं का नहीं रहता।"

साध्वी पद्मावती ने आर्या यक्षिणी की आज्ञा को शिरोधार्य किया और यत्नपूर्वक सयम का पालन करने लगी। वे ईर्यासमिति आदि पाँचो समिति से युक्त हो ब्रह्मचारिणी बन गईं। साध्वी पद्मावती ने यक्षिणी आर्या के समीप सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया और साथ ही उपवास, बेला, तेला, चोला, पचोला, पन्द्रह-पन्द्रह दिन तथा महीने-महीने तक की तपस्या करते हुए विचरण करने लगी। इस प्रकार पूरे बीस वर्ष तक साध्वी पद्मावती ने चारित्र-पर्याय का पालन किया। अन्त मे एक मास की सलेखना की और साठ भक्त अनशन करके जिस अर्थ के लिए सयम लिया था उस मोक्ष की आराधना करके अन्तिम श्वास के बाद सिद्ध पद को प्राप्त किया।

(अन्तगड दसा सूत्र, वर्ग ५ अध्ययन १ का उत्तरार्द्ध)



११

गौरी आदि रानियों की दीक्षा

बन्धुओ !

अन्तगड सूत्र के वर्ग ५ के प्रथम अध्ययन मे आपने महारानी पद्मावती की दीक्षा एव साधना की कथा सुनी, अव यहाँ वासुदेव की अन्य रानियो की ससार त्याग की घटनाएँ वताई जाती है।

जव भवभय-तरण-तारण भगवान अरिष्टनेमि द्वारका नगरी के निकट रैवतगिरि-पर स्थित सहस्राम्रवन मे पधारे। विशाल अशोक वृक्ष के नीचे उनकी धर्मपरिषद् जुडी कृष्ण-वासुदेव भी भगवान के दर्शन वन्दन करने गये। कृष्ण-वासुदेव की परमप्रिया पट्टमहिषी गौरी भी पद्मावती के समान धर्मरथ पर आरूढ होकर भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण मे नन्दनवन पहुँची। उसने प्रभु से धर्म सुना और पद्मावती की तरह भवभय से छुटकारा पाने के लिए भगवान के समीप दीक्षा अगीकार कर ली। महारानी गौरी ने भी पद्मावती देवी की तरह सयम का पालन किया और अन्त मे सिद्धत्व प्राप्त किया।

महारानी गौरी की तरह गन्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्ववन्ती, सत्यभामा और रुक्मिणी ने भी भगवान् के समीप दीक्षा लेकर चारित्र पर्याय का पालन किया और सिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार पद्मावती सहित कृष्ण वासुदेव की आठो पटरानियो ने सिद्धत्व प्राप्त किया।

कृष्ण वासुदेव की पटरानी जाम्बवन्ती की कोख से उत्पन्न कृष्ण के आत्मज शाम्बकुमार पहले ही दीक्षा ले चुके थे। शाम्बकुमार के मूलश्री तथा मूलदत्ता नाम की दो रानियाँ थी। पति शाम्बकुमार द्वारा सिद्धत्व प्राप्त करने के बाद उन्होंने जब भगवान् अरिष्टनेमि का उपदेश सुना तो प्रतिबुद्ध हुईं और भगवान् से निवेदन किया—

"हे भगवन् ! हम कृष्ण-वासुदेव से आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहती हैं।"

भगवान् ने कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

इसके बाद पूज्य सास पद्मावती की तरह मूलश्री और मूलदत्ता ने पूज्यश्वसुर कृष्ण-वासुदेव से अनुमति ले भगवान् अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा लेकर चारित्र पर्याय का पालन किया और दोनो ने सिद्ध पद को प्राप्त किया।

अंतगडदसा सूत्र, वर्ग ५, अध्ययन २ से १० तक समाप्त

इस प्रसग पर आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज ने बडी साधु वदना मे कहा है—

वली कृष्णरायनी अग्रमहिषी आठ।
पुत्र बहू दोय, सच्या पुण्यना ठाठ।७१।
जावव कुलसतियां टाल्यो दु ख उचाट।
पहुंती शिवपुरमां एह छे सूत्र नो पाठ।७२।



१२

मंकाई एवं किंकम गाथापति

वन्धुओ !

पर्युषण के पवित्र दिनो मे आपको भगवान् अरिष्टनेमि युग के अनेक राजकुमार साधको तथा राजरानी साधिकाओ का प्रेरणादायी जीवन-वृत्त सुनाया जा चुका है। अन्तगड सूत्र के प्रथम पाँच वर्गों मे उनका वर्णन समाप्त हुआ। आगे के तीन वर्ग मे भगवान् महावीर युग के उत्कट साधको का वर्णन है।

इन साधको मे तप-तितिक्षा और सरलता की अद्भुत विशेषताएँ हैं। इन्होने उत्कट तप करके जीवन स्वर्ण को चमकाया है। मुनि अर्जुनमाली, अणगार, अतिमुक्तक जैसे तपोधन तथा काली महाकाली जैसी तपस्विनी साध्वियो का वर्णन अब आपके सामने प्रस्तुत है।

भगवान महावीर के समय मे उत्तम नगरो मे अग्रणी राजगृह नगर नैसर्गिक शोभा से भी पूर्ण समृद्ध था, गिरिमालाओ से घिरे इस नगर के राजमार्ग बडे ही विशाल और साफ-सुथरे थे। ऊँचे-ऊँचे भवन और अट्टालिकाओ से पता लगता था कि इस नगर मे धनी-मानी श्रेष्ठी और व्यापारियो का आधिक्य है। नगर के मध्य अनेक स्थानो पर सुन्दर सरोवर थे। इस प्रकार यह राजगृह व्यापार, सस्कृति, शिक्षा, राजनीति, धर्म, दर्शन आदि अनेक दृष्टियो से इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

राजगृह मे धर्मनिष्ठ और प्रजावत्सल राजा श्रेणिक राज्य करता था। राजा का पुत्र और मत्री अभयकुमार बडा ही चतुर और विचक्षण था। उसकी धर्म-पूरित राजनीति और बुद्धिमत्ता दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी।

धनी-मानी, श्रीसम्पन्न श्रेष्ठियो की नगरी राजगृह मे मकाई नाम का एक गाथापति रहता था। जो धन-धान्य से अत्यन्त सम्पन्न और अपरिभूत—किसी से भी हतप्रभ और अपमानित न होने वाला था।

एक वार श्रमण भगवान महावीर राजगृह पधारे।[1] वे राजगृह के वाहर गुण-शीलक नामक राजोद्यान मे विराजमान हुए। वीर प्रभु का आगमन सुन नर-नारियो का विशाल समूह उनके दर्शन-वन्दन को पहुँचा। गाथापति मकाई भी (भगवती सूत्र

---

१ यह प्रसग भगवान के १८वें वर्षावास का है।

वर्णित गगदत्त के समान)[1] भगवान महावीर के दर्शन करने घर से चला। भगवान ने धर्म परिषद को धर्मोपदेश दिया।

वीर प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर गाथापति मकाई के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। घर आकर मकाई ने गृहभार ज्येष्ठ पुत्र को सौंपा और हजार सेवको द्वारा उठाई जाने वाली पालकी मे बैठ दीक्षा लेने के लिए भगवान के पास आया और दीक्षा लेकर साधु बन गया।

दीक्षा लेने के अनन्तर अनगार मकाई ने भगवान महावीर के तथारूप स्थविरो के पास सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया और स्कन्दक जी[2] के समान गुणरत्न सवत्सर तप का आराधन किया। सोलह वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन कर अन्त मे स्कन्दक जी के समान अनगार मकाई विपुलगिरि पर सथारा करके सिद्ध हुए।

मकाई गाथापति की तरह राजगृह-निवासी किंकम गाथापति ने भी भगवान् महावीर के पास संयम ग्रहण किया। इन्होने भी तप साधना के साथ सोलह वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर अन्त मे मकाई की तरह विपुलगिरि पर सथारा करके सिद्धि गति को प्राप्त की।

अतगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १—२।



---

१ गगदत्त गाथापति भगवान मुनिसुव्रत के समय मे हुआ जिसका वर्णन भगवती सूत्र १६।५ मे आया है।

२ स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान महावीर के पास दीक्षा लेकर कठोर तपश्चरण किया। इसका वर्णन भगवती सूत्र २।१ मे आया है।

१३

समभावी अणगार अर्जुनमाली और अभयदर्शी साधक सुदर्शन

बधुओ !

अतगड सूत्र के छठे वर्ग के प्रथम व द्वितीय अध्ययन मे क्रमश मकाई व किंकम अणगार का वर्णन आपने सुना, अब अर्जुनमाली का वर्णन प्रस्तुत है—

मगध देश की राजधानी राजगृह में राजा श्रेणिक का राज्य था। जन-जन को धार्मिक स्वतन्त्रता, धर्मरक्षण और स्वय भी धर्म का पालन करके श्रेणिक नृपति ने इतिहास मे अपना अक्षुण्ण स्थान बना लिया है। श्रमण भगवान महावीर ने ग्यारह चातुर्मास इसी राजगृह मे बिताये। राजा श्रेणिक के चेलना, धारिणी, नन्दा, भद्रा, आदि अनेक रानियाँ थी। राजपुत्र अभयकुमार बुद्धि मे साक्षात् बृहस्पति था। वह बडी-से-बडी पेचीदी समस्याओ को चुटकियो मे सुलझा देता था। बुद्धिनिधान होने के कारण ही श्रेणिक ने अपने पुत्र अभय को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया था। अभयकुमार वीर प्रभु का प्रमुख श्रावक भी था। अभयकुमार के कुशल मन्त्रित्व के कारण तत्कालीन अन्य राज्य भी उसकी राजनीति का लोहा मानते थे। राजगृह का व्यापार उन्नति के शिखर पर था और धर्म का तो वह केन्द्रस्थल ही था। इस प्रकार राजनीति, धर्म, व्यापार, शिक्षा, सस्कृति, दर्शन आदि सभी की दृष्टि से राजगृह की भूमिका अपना अग्रणी स्थान रखती थी।

राजगृह की वास्तुशोभा और प्राकृतिक सुषमा—दोनो ही दर्शनीय थी। ऊँचे-ऊँचे भव्य भवनो, लम्बे-चौडे राजमार्गों और सागर से स्पर्द्धा करने वाले विशाल सरोवरो से राजगृह का वैभव बोलता-सा जान पडता था। चारो ओर की पर्वत-मालाओ और छोटे-बडे अनेक उद्यानो तथा फलदार वृक्षो से उसकी नैसर्गिक शोभा भी खूब बढी-चढी थी। राजगृह के बाहर एक विशाल, रम्य और अत्यन्त शोभाशाली 'गुणशीलक' नामक उद्यान था। इसी गुणशीलक उद्यान मे श्रमण भगवान महावीर ने अनेक बार राजगृह की जनता को धर्म का ज्ञान दिया था।

राजगृह की प्रजा सब भाँति सुखी थी। राजगृह मे हर वर्ग के लोग रहते थे। सभीअ पने-अपने क्षेत्र मे उन्नत और खुशहाल थे। भगवान महावीर के भक्त अनेक कोठ्या

धीश, अन्जपति श्रावक निवास करते थे। राजगृह की नारियाँ भी धर्म मे पुरुषो से आगे थी। सुलसा जैसी श्रद्धा-निष्ठ व भक्ति प्रधान नारियाँ राजगृह की ही देन हैं। श्री सम्पन्नता और वैभव का केन्द्रस्थल होते हुए भी राजगृह के लोगो की धर्मनिष्ठा और नैतिकता प्रशसनीय थी। 'यथा राजा तथा प्रजा का, तो राजगृह साक्षात्' जीता-जागता उदाहरण था।

× × ×

राजगृह मे अत्यन्त सीधा-सादा, छल-कपट से रहित अर्जुन नाम का एक माली रहता था। अर्जुनमाली की पत्नी वन्धुमती भी अत्यन्त सुशील, सुन्दर और सदा पति के अनुकूल रहने वाली थी। अर्जुनमाली फूल और फूलो के गजरे-हार आदि वेचकर अपनी कुल-परम्परा का पालन करते हुए अपने पेट का पालन भी करता था।

राजगृह नगर के वाहर अर्जुनमाली का एक अपना वगीचा था, जो नीले पत्तो से आच्छादित होने के कारण आकाश में घिरी हुई घनघोर घटा के समान श्यामकान्ति से युक्त दिखाई देता था। अर्जुनमाली के इस वगीचे मे हर ऋतु के पंचवर्णी फूल खिले रहते थे। इस प्रकार उसका उद्यान रम्य, सुन्दर तथा हृदय को प्रसन्न-प्रफुल्ल करने वाला एव दर्शनीय था।

उक्त वगीचे के समीप ही 'मुद्गरपाणि' नामक यक्ष का एक यक्षायतन था। यह यक्षायतन अर्जुनमाली की अनेक पीढियो से पूजित था। अर्जुन के पिता, पितामह और प्रपितामह आदि की कुल-परम्परा से सम्बन्धित यह यक्षायतन पूर्णभद्र के समान पुराना, दिव्य एव सत्य प्रत्यय था। यक्षायतन मे स्थापित मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा अत्यन्त विशाल थी। यक्ष प्रतिमा के एक हाथ मे एक हजार पल परिमाण[1] भार वाला लोहे का मुद्गर था।

अर्जुनमाली वचपन से ही यक्ष प्रतिमा की पूजा करता था। यह पूजा उसे अपने पूर्वजो से विरासत मे मिली थी। अर्जुन नित्य-प्रति बेंत की बनी टोकरी लेकर राजगृह से वाहर अपने बगीचे मे जाता था। टोकरी भरकर पचवर्णी फूल तोडता था। उन तोडे हुए फूलो मे से अच्छे-अच्छे फूल चुनकर मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा के आगे चढाता था। फूल चढाने के वाद भूमि पर दोनो घुटने टेक यक्षप्रतिमा को प्रणाम करता था। इस प्रकार पूजा करने के वाद राजमार्ग के किनारे वैठकर फूल से वने हार वेच-कर अपना उदर-पोषण करता था। इस प्रकार अर्जुनमाली का जीवन सुखपूर्वक बीत रहा था।

राजगृह मे 'ललित' नाम की एक गोष्ठी अथवा मित्रमण्डली थी। इस ललित गोष्ठी के सदस्य स्वच्छन्द विहारी, किसी की नही मानने वाले बड़े ही उद्धत थे। एक वार इस गोष्ठी ने राजा श्रेणिक का कोई कठिन कार्य सम्पन्न कर दिया था। कार्य से प्रसन्न होकर राजा ने इन्हें छूट दी थी कि यह गोष्ठी अपनी इच्छानुसार कार्य करने मे

---

१ एक मन साढे वाईस सेर

स्वतन्त्र हैं। राज्य की ओर से गोष्ठी की कार्यविधि मे न तो कोई हस्तक्षेप किया जायगा और उसके सदस्यो को कोई दण्ड ही दिया जाएगा।

स्वतन्त्रता मे यदि विवेक भी समाविष्ट हो जाय तो वह स्व-पर दोनो के लिए वरदान बन जाती है। इसके विपरीत स्वतन्त्रता जब विवेक शून्य हो जाती है तो सबके लिए घातक होती है। ललित गोष्ठी के सदस्यो की स्वतन्त्रता भी ऐसी ही विवेक शून्य थी। गोष्ठी के सदस्य स्वच्छन्द होकर राज्यभर मे विचरण करते थे। मनमानी करने और मर्यादा को तोडने मे ही वह अपनी स्वतन्त्रता को सफल मानते थे। 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' लोकोक्ति को ललित गोष्ठी के सदस्य चरितार्थ कर रहे थे।

एक दिन राजगृह नगर मे एक उत्सव मनाने की तैयारी हुई। अर्जुनमाली ने सोचा कि कल चूंकि नगर मे उत्सव है, इसलिए अधिक फूलो की जरूरत पड़ेगी। अत अधिक फूल तोडने के इरादे से वह दूसरे दिन बहुत सवेरे ही उठा और अपनी पत्नी बन्धुमती को साथ लेकर बगीचे मे पहुँच गया और बन्धुमती के साथ फूल तोड-तोड कर बांसो की डलिया भरने लगा। जिस समय बन्धुमती और अर्जुन फूल तोड रहे थे, तभी उक्त ललित गोष्ठी के छह गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन के आयतन मे गप-शप कर रहे थे। फूल तोडकर अर्जुनमाली बन्धुमती सहित मुद्गरपाणि यक्ष प्रतिमा की पूजा करने यक्षायतन आया। अर्जुन के साथ बन्धुमती को आते देख गोष्ठी के छहो पुरुषो ने विचार किया—"मित्रो! यह अर्जुनमाली अपनी पत्नी के साथ यहाँ आ रहा है। इसकी पत्नी बडी सुन्दर और भोग्या है। हमे अपना काम बनाने के लिए अर्जुन की औंधी मुश्कें—दोनो हाथ पीछे करके—बांध देनी चाहिए। इसके बाद हम उसकी पत्नी के साथ स्वच्छन्द भोग-विलास करेंगे।" ऐसा निश्चय कर छहो गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन की किवाडो के पीछे सांस रोक कर निश्चल खड़े हो गये।

अर्जुनमाली फूलो से भरी टोकरी लिए हुए बन्धुमती के साथ यक्षायतन मे आया और भक्तिपूर्ण नेत्रो से यक्षप्रतिमा को देखा। तदनन्तर मुद्गरपाणि यक्ष की प्रतिमा के आगे पुष्पाजलि अर्पित करके धरती पर दोनो घुटने टेक प्रणाम करने लगा। उसी समय किवाड के पीछे छिपे छहो गोष्ठिको ने अर्जुनमाली को पकड लिया और गाढ बन्धन मे बांध उसे एक ओर लुढका दिया और उसी के सामने उसकी पत्नी बधुमती के साथ विविध प्रकार से कुकृत्य करने लगे।

अर्जुनमाली ने अपने बधनो को देखा और अपनी विवशता पर आँसू बहाते हुए उसने यक्षप्रतिमा की ओर देखकर विचार किया—

"मैं बाल्यकाल से ही अपने इष्टदेव मुद्गरपाणि यक्ष की पूजा करता आ रहा हूँ। इसकी पूजा करने के बाद ही मैं जीविका के निमित्त फूल लेकर सडक के किनारे बैठकर बेचता हूँ। आज मुझे ऐसा सन्देह होता है कि इस प्रतिमा मे यक्ष है ही नही। यह तो मात्र धातुरूप और जड है। मैं व्यर्थ ही इस जड-ढकोराले की पूजा करता रहा। यदि वास्तव मे इस मूर्ति मे इसका अधिष्ठाता यक्ष होता तो मुझे (अपने भक्त को)

आपत्ति मे पडा देखकर कुछ न करता ? वह वास्तव मे होता तो कुछ न कुछ अवश्य करके दिखाता ।"

मुद्गरपाणि यक्ष ने अर्जुनमाली के मन मे आये हुए भावो को जान लिया । वह यक्ष प्रतिमा में से निकल अर्जुनमाली की देह में अवस्थित हो गया । यक्ष का अपार बल आते ही अर्जुनमाली के गाढ बन्धन तडातड टूट गए और बन्धन मुक्त होते ही उसने यक्ष प्रतिमा के हाथ से एक हजार पल परिमाण वाला मुद्गर ले लिया । क्रोधावेश मे अर्जुनमाली मुद्गर लेकर छहो पुरुषो पर टूट पडा और उसने बात की बात मे छहो पुरुष तथा बन्धुमती को मार डाला । सात प्राणियो की हत्या करने के बाद भी उसका क्रोध शान्त नही हुआ । अब यक्षाविष्ट अर्जुनमाली राजगृह के बाहर घूम-घूम कर प्रतिदिन सात प्राणियो को मार कर ही चैन की सांस लेता । ललित गोष्ठी के गोष्ठिको की विवेकहीन स्वतत्रता ने कितना बडा अनर्थ किया । एक सीधे-सादे माली को नृशस हत्यारा बना दिया ।

राजगृह की वीथियो—राजमार्गों आदि मे लोग चर्चा करते फिर रहे थे—

"अरे भाई ! मुद्गरपाणि यक्ष से आविष्ट होकर अर्जुनमाली राजगृह नगर के बाहर एक स्त्री और छह पुरुष—सात व्यक्तियो को प्रतिदिन मारता है ।"

लोगो की यह चर्चा राजा श्रेणिक के कानो मे भी पहुँची । राजा श्रेणिक ने राज सेवको को आज्ञा प्रदान करते हुए कहा—

"हे देवानुप्रिय ! राजगृह के बाहर अर्जुनमाली की हिंसा नग्न नृत्य कर रही है । वह प्रतिदिन एक स्त्री और छह पुरुष—सात व्यक्तियो को मारता है । अत तुम नगर मे मेरी यह घोषणा प्रसारित कर दो—

'राजगृह के निवासियो ! यदि तुम लोगो की इच्छा जीवित रहने की है तो घास, लकडी, पानी, फल-फूल आदि किसी भी चीज के लिए राजगृह से बाहर मत निकलो, क्योकि यदि तुम लोग नगर के बाहर निकले तो कही ऐसा न हो कि तुम्हारे शरीर का विनाश हो जाय ।'

"हे देवानुप्रिय ! मेरी इस आज्ञा को दो-तीन बार प्रसारित करके मुझे सूचना दो ।"

राज-सेवको ने नगर के चौराहो, हाट-बाजारो, सडको—नगर भर मे यत्र-तत्र सर्वत्र राजा की उक्त घोषणा प्रसारित कर दी और राजा को सूचित कर दिया ।

इस प्रकार राजगृह एक कैदखाना बन गया । नगर से बाहर जाने का किसी को साहस नही होता था । अपने प्राण किसे प्यारे नही होते ? अर्जुनमाली का आतक ऐसा छा गया कि माताएँ रोते-मचलते बालको को यह कहकर चुप करती—'चुप हो जा, नहीं तो अर्जुनमाली आ जाएगा ।' यो राजगृह मे सभी तरह के सुख-साधन थे,

गेग बहुत दिनो तक स्वेच्छा से नगर से बाहर जाते भी न थे, पर अर्जुनमाली के भय की पाबन्दी से राजगृह के लोगो की साँसें घुटी-घुटी-सी चलती थी, उन्हे अपना घर कारागार की कोठरी-सा मालूम पडता था।

× × ×

राजगृह मे सुदर्शन नाम के एक श्रेष्ठी रहते थे। सेठ सुदर्शन ऋद्धि सम्पन्न, अपरिभूत, श्रमणोपासक तथा जीवाजीवादि नव तत्त्वो के ज्ञाता थे। धर्म मे उनकी बहुत अगाध श्रद्धा थी।

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह मे पधारे। नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में वीर प्रभु विचरण करने लगे। उनके आने का समाचार नगर भर मे फैल गया। राजगृह मे अनेक श्रावक, धर्मप्रेमी और श्रद्धालु रहते थे। समूची प्रजा ही भगवान महावीर का दर्शन पाना अपना अहोभाग्य समझती थी। जब भी भगवान महावीर पधारते, राजगृह की जनता नदी की तरह उमड कर गुणशीलक उद्यान मे पहुँचती थी। लेकिन आज तो बात ही दूसरी थी। सब के सब मन मसोस कर रह गए थे। अर्जुनमाली के हिंसक आतक ने सब श्रद्धालुओ के पैरो मे बन्धन डाल दिये थे।

प्रभु के आगमन पर राजगृह के स्त्री-पुरुष यत्र-तत्र चर्चा कर रहे थे—

"हे भाई! श्रमण भगवान महावीर यहाँ पधारे हैं। उनके नाम-गोत्र के श्रवण का भी महाफल होता है। उनके दर्शन करने, वाणी सुनने तथा उनके द्वारा प्ररूपित अर्थ ग्रहण करने से जो फल होता है, उसका तो कहना ही क्या है, वह तो निस्सन्देह अवर्णनीय है।"

इस प्रकार यत्र-तत्र लोगो की चर्चा से सेठ सुदर्शन ने भी वीर भगवान के आगमन का शुभ सवाद जाना। उसने अपने मन मे विचार किया—'मेरा कितना अहो भाग्य है कि भगवान महावीर राजगृह के गुणशीलक उद्यान मे पधारे हैं। मुझे उनके दर्शन करने जाना चाहिए।' ऐसा विचार कर सेठ सुदर्शन अपने माता-पिता के पास पहुँचे और हाथ जोड कर इस प्रकार कहने लगे—

"हे माता-पिता! श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान मे पधारे हैं, इसलिए मैं उन्हें वन्दन-नमस्कार करने जाना चाहता हूँ।"

सुदर्शन की इस अप्रत्याशित इच्छा को जानकर उसके माता-पिता ने कहा—
"एवं खलु पुत्ता! अज्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरइ। त माणं तुमं पुत्ता! समणं भगव महावीरं वदए णिगच्छाहि। माणं तव सरीरयस्स वावत्ती भविस्सइ। तुम ण इहगए चेव समण भगव महावीर वदाहि णमंसाहि।"

"हे पुत्र! अर्जुनमाली राजगृह नगर के बाहर मनुष्यो को मारता हुआ घूम रहा है। इसलिए हे पुत्र! तुम प्रभु-वन्दन के लिए नगर से बाहर मत जाओ, यही से भगवान को भाव वन्दना कर लो। भगवान तो भाव के भूखे हैं। पता नही, अर्जुनमाली तुम्हारे शरीर को क्या हानि पहुँचा दे।"

माता-पिता की इस वाणी को सुनकर सुदर्शन ने कहा—

"हे माता-पिता ! जब श्रमण भगवान महावीर यहाँ पधारे हैं, यहाँ विराजित हैं और यहाँ समवसृत हैं, फिर भी मैं उनको यहीं से वन्दन-नमस्कार करूं, उनकी सेवा मे न जाऊँ, यह कैसे हो सकता है ? मैं भगवान के दर्शन करने जाना चाहता हूँ, इसलिए आप मुझे अनुमति दीजिए। मैं प्रभु के निकट जाकर उनको वन्दन-नमस्कार और उनकी पर्युपासना करूँगा।"

नगर के बड़े-बड़े धर्मप्रेमी-श्रद्धालु गुणशीलक उद्यान जाने का साहस नहीं कर पा रहे थे। इसलिए पुत्रमोह के वशीभूत सुदर्शन के माता-पिता ने उसे अनेक युक्तियो से समझाया, पर सुदर्शन तो अभयदर्शी था। जब उसने अपना आग्रह न छोड़ा तो उसके माता-पिता ने अनिच्छापूर्वक अनुमति देते हुए कहा—

"हे पुत्र ! [जब हमारी बात तुम्हारे गले नहीं उतरती तो] जिस प्रकार तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

इस प्रकार माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर सुदर्शन सेठ ने स्नान किया। स्वच्छ-धुले वस्त्र धारण किये और भगवान महावीर के दर्शन करने अपने घर से निकले। वे राजगृह के मध्य होते हुए पैदल ही चले और मुद्गरपाणि यक्ष के यक्षायतन से न अधिक दूर तथा न अधिक निकट—गुणशीलक उद्यान की ओर जाने लगे। अर्जुन के शरीर मे प्रविष्ट मुद्गरपाणियक्ष ने अपनी ओर आते हुए श्रमणोपासक सुदर्शन को देखा तो उसकी क्रूर हिंसा वेग पूर्वक मुद्गर को घुमाते हुए सुदर्शन को अपने निकट आने की बेताबी से प्रतीक्षा करने लगी।

हिंसा के भय मे अभय का दर्शन करते हुए सुदर्शन निर्भीक भाव से आगे बढ़े चले जा रहे थे। राजगृह के नर-नारी मौत के मुँह मे जाते हुए सुदर्शन को भय, दुःख, चिन्ता और कुतूहल मे देखने लगे। वे सब अपने-अपने घरो की छत से हिंसा-अहिंसा का मिलन बडी उत्सुकता से देखने के लिए व्यग्र थे।

आज अहिंसा हिंसा का मुकाबला करने जा रही थी अथवा प्रेम द्वेष को पराजित करने जा रहा था। आज तक ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं कि हिंसा अहिंसा को पराजित कर पायी हो।

वीरत्व और शौर्य शरीर मे नहीं होता, आत्मा मे होता है। यदि शरीर बल मे ही वीरत्व होता तो बड़े-बड़े सुभट राजगृह मे ही न बैठे रहते—अर्जुनमाली से भयभीत न होते। भारत की अहिंसा और क्षमा मे भी गजब का वीरत्व है। यहाँ की करुणा मे भी शौर्य प्रवाहित होता रहता है। आत्मा की वीरता का मापदण्ड 'कितनो को मारा' में नही आका जाता, बल्कि 'कितनो को अभय दिया' इसी बात पर तोला गया है। बड़े-बड़े बलशाली, पराक्रमी मौत का नाम सुनते ही कांपने लगते हैं, पर जिनमे आत्मबल होता है, ऐसे कृशकाय कोपीनधारी मृत्यु के रौद्र रूप को देखकर भी हँसते रहते हैं। यही सच्चा वीरत्व है और सेठ सुदर्शन ऐसा ही अभयदर्शी

वीर था। अहिंसात्मक आचरण का प्रभाव स्थूल रूप मे रोज हमारे सामने आता है। उफनता हुआ दूध ठडे जल के चन्द छींटो से बैठ जाता है। दहकते लाल लोहे को ठडे लोह की छैनी यों ही काट देती है। इन स्थूल उदाहरणो के आधार पर भी यदि कहा जाय तो अर्जुनमाली उफनता हुआ दूध अथवा गरम लोहा था और अभयदर्शी सुदर्शन शीतल जल अथवा ठडे लोहे का प्रतीक था।

अर्जुनमाली कुपित होकर एक हजार पल भार का मुद्गर लिये सुदर्शन की ओर आने लगा। मुद्गरपाणि यक्ष को अर्जुनमाली के रूप मे अपनी ओर आता हुआ देखकर सुदर्शन को तनिक भी भय, त्रास, दु ख, चिन्ता, उद्वेग और क्षोभ नही हुआ। उन्होंने वही सथारा लेने का निश्चय किया। सुदर्शन ने अपने उत्तरीय के अचल से भूमि का प्रमार्जन किया और मुख पर उत्तरासग धारण किया। तदनन्तर पूर्व दिशा की ओर मुह करके बाएँ घुटने को ऊँचा किया और दोनो हाथ जोडकर मस्तक पर अजलि-पुट रखा और फिर अपने सकल्प को इस प्रकार दुहराया—

णमोत्थुणं अरहताणं भगवंताण जाव सपत्ताण

"जो अरिहन्त भगवान मोक्ष को पधार गए हैं, मैं उन अरिहन्तो को नमस्कार करता हूँ और जो मोक्ष मे पधारने वाले हैं, उन भगवान महावीर को भी नमस्कार करता हूँ। मैंने पहले भगवान महावीर स्वामी से स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद और स्थूल अदत्तादान का त्याग किया था। स्वदार-सतोष और इच्छा-परिमाण (स्थूल परिग्रह त्याग) अणुव्रतो को धारण किया था। अब इस समय उन्ही भगवान महावीर की साक्षी से यावज्जीवन प्राणातिपात का सर्वथा त्याग करता हूँ। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता-हूँ और क्रोध, मान, माया तथा लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह पापो का यावज्जीवन के लिए सर्वथा त्याग करता हूँ। अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

"यदि मैं इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो त्याग पार लूँगा, अन्यथा उपर्युक्त त्याग यावज्जीवन के लिए हैं।"

ऐसा दृढ निश्चय कर सेठ सुदर्शन ने सागारी अनशन धारण कर लिया। इधर मुद्गर घुमाता हुआ क्रूर अर्जुनमाली कायोत्सर्ग मे लीन सुदर्शन सेठ के समीप आ गया, पर उसका पशुबल और हिंसा श्रमणोपासक सुदर्शन का कुछ न बिगाड सके। सुदर्शन को शान्त-सौम्य मुद्रा मे ध्यानावस्थित देख यक्षाविष्ट अर्जुन का आवेश उसी प्रकार ढीला पड गया, जैसे पानी पडने से बालू का ढेर बैठ जाता है। अर्जुनमाली सुदर्शन के चारो ओर घूमा, पर अपने बल का किंचित् भी प्रभाव नही दिखा सका और सुदर्शन के सामने आकर खड़ा हो गया तथा बहुत देर तक अपलक दृष्टि से उन्हे देखता रहा।

णिरिक्खित्ता अज्जुणयस्स मालागारस्स सरीर विप्पजहइ।

यक्ष एकदम हतप्रभ और उत्साहहीन हो गया और उसने अर्जुन का शरीर छोड दिया तथा जिधर से आया था उसी ओर अपना मुद्गर लेकर चला गया। यक्ष के चले जाने के बाद जैसे गुब्बारे की हवा निकल जाती है, अर्जुन का शरीर भी उसी तरह सत्वहीन हो गया और वह 'धम' की [हल्की-सी] आवाज के साथ धरती पर गिर पडा।

इधर सुदर्शन सेठ ने स्वयं को उपसर्ग रहित जान अपना ध्यान पूरा किया और मूर्च्छित-अचेत अर्जुनमाली को होश मे लाने का प्रयत्न करने लगे। आत्मबल के सम्मुख पशुबल पराजित हो गया। प्रेम ने द्वेष को जीत लिया। कुछ प्रयत्न के बाद अर्जुनमाली सचेष्ट हुआ तो उसने सुदर्शन से पूछा—

"हे देवानुप्रिय! आप कौन हैं और कहाँ जा रहे हैं?"

सुदर्शन ने अपना परिचय देते हुए कहा—

"हे देवानुप्रिय! मैं (तुम्हारे ही नगर राजगृह का निवासी) श्रमणोपासक सुदर्शन हूँ। जीवाजीवादि नौ तत्वो का ज्ञान मैंने प्राप्त कर लिया है और अब गुण-शीलक उद्यान मे विराजमान श्रमण भगवान महावीर को वन्दन नमस्कार करने जा रहा हूँ।"

सुदर्शन के मुख से वीर प्रभु का नाम सुन अर्जुनमाली के मन में भी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई। अत अपने मन की बात बताते हुए अर्जुनमाली ने सुदर्शन सेठ से कहा—

तं इच्छामिणं देवाणुप्पिया! अहमवि तुमए सद्धि समण भगव महावीरं वंदित्तए जाव पज्जुवासित्तए।

"हे देवानुप्रिय! मैं भी तुम्हारे साथ महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करने और पर्युपासना करने के लिए जाना चाहता हूँ।"

सुदर्शन ने कहा—

अहासुहं देवाणुप्पिया!

"हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

पालतू बकरी की तरह चुपचाप अर्जुनमाली सुदर्शन के साथ गुणशीलक उद्यान की ओर जा रहा था। राजगृह के नर-नारी अपने-अपने घर की छतो से इस अपूर्व दृश्य को देख रहे थे। दर्शक नर-नारी आबाल-वृद्ध हरेक की जबान पर सुदर्शन के धैर्य, अभय एवं दृढ़निष्ठा की चर्चा थी। राजगृह मे भगवान महावीर के भक्तो की कमी न थी, उनमे भगवान के प्रति श्रद्धा भी थी, पर आज सबकी श्रद्धा पगु बनी खडी थी। सुदर्शन और अर्जुनमाली को साथ-साथ जाते देख राजा श्रेणिक ने राजगृह के दरवाजे खुलवा दिये। बाडे से छूटी भेड-बकरियो की तरह राजगृह की जनता कूदती-फांदती गुणशीलक उद्यान की ओर जा रही थी। आज सुदर्शन ने सबको मानो कारा-गार से मुक्त कर दिया था।

गुणशीलक उद्यान मे विशाल जनसमूह के मध्य अर्जुनमाली ने सुदर्शन के साथ महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार किया और सभा के मध्य बैठ गया। भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई। प्रभु की धर्मकथा सुन श्रोता आत्मविभोर हो गए। धर्म-कथा सुनकर सुदर्शन तो अपने घर चले गये और अर्जुनमाली ने हाथ जोडकर प्रभु से कहा—

हे भगवन् ! आपके द्वारा कही हुई धर्मकथा सुनकर मुझे उस पर अपार श्रद्धा हुई है। मैं निर्ग्रन्थ प्रवचनो पर श्रद्धा करता हूँ। अत हे प्रभो ! मैं आपसे दीक्षा अगीकार करना चाहता हूँ।"

अर्जुनमाली की ऐसी इच्छा सुनकर भगवान ने कहा—

"हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसा करो।"

भगवान की अनुमति मिलते ही अर्जुनमाली ईशानकोण मे गये और स्वयमेव पचमुष्टि लोच करके अनगार बन गए और फिर भगवान को वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार अभिग्रह धारण किया—

"मैं यावज्जीवन अन्तर रहित बेले-बेले की पारणा करता हुआ और तपस्या द्वारा अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरूँगा।"

ऐसा अभिग्रह लेकर अनगार अर्जुन बेले-बेले की पारणा करते हुए विचरने लगे। बेले के पारणे के दिन उन्होंने प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय किया, दूसरे प्रहर मे ध्यान किया और तीसरे प्रहर मे गोचरी के लिए राजगृह नगर मे गए। अनगार अर्जुन ऊँच-नीच मध्यम कुलो मे गृह सामुदायिक भिक्षा के लिए फिर रहे थे। अर्जुन अनगार को गोचरी के लिए घूमते देख राजगृह के स्त्री-पुरुष, बच्चे आदि इस प्रकार कहने लगे—

"इसी ने मेरी माँ को मारा है। इसने मेरे पिता को मारा। इसने मेरा भाई मारा। अरे अरे ! इसने मेरा पुत्र और पुत्रवधू दोनो मारे।"

इस प्रकार लोग अर्जुनमाली का तिरस्कार करने लगे। द्वेष, घृणा और उसके द्वारा स्वजनो के मारे जाने के दुख से दुखी होकर अर्जुन अनगार को कटुवचन कहने लगे। उनका रोष यहाँ तक उभरा कि लाठी, ईंट, पत्थर और थप्पडो से उन्हें मारने लगे। इस प्रकार स्त्री-पुरुषो और बच्चो से ताडित-प्रताडित और अपमानित अर्जुन अनगार किसी पर भी मन मे द्वेषभाव नही लाते और उनके दिये हुए आक्रोश आदि परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करने लगे। अर्जुन अनगार क्षमाभाव धारण कर और दीन-भाव से रहित मध्यस्थ भावना मे विचरने लगे तथा निर्जरा की भावना से सभी उपसर्ग-परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करने लगे। उनके विचारो मे भगवान महावीर का यही उपदेश निरतर तरंगित हो रहा था—

अक्कोसेज्जा परे भिक्खू न तेसिं पडिसजले।
सरिसो होइ बालाण तम्हा भिक्खू न संजले॥

यदि कोई भिक्षु को गाली दे तो वह उसके प्रति क्रोध नही करे, क्रोध करने वाला अज्ञानी-मूर्खों के सदृश है, इसलिए भिक्षु अपनी उच्च स्थिति का विचार कर क्रोध न करे, उबाल न खाए। किन्तु—**तितिक्खं परमं नच्चा**—तितिक्षा, समता को परम धर्म मानकर मन मे दुर्भावना नही लाए। वह सोचे—

समणं सजय दंतं हणेज्ज कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स ना सुत्ति एवं पेहेज्ज संजए॥

श्रमण सयत एव दान्त—इन्द्रियो का दमन करने वाला है, उसे यदि कोई कही मारे-पीटे तो उसे यही चिन्तन करना चाहिए—इस आत्मा का कभी नाश नही होता, आत्मा अमर है, शरीर क्षणभगुर है, शरीर का नाश होगा तो उसमे मेरा क्या जाता है।"[1]

इस प्रकार समत्व चिंतनपूर्वक परीषह-उपसर्गों को समता भाव से सहते हुए ऊँच-नीच, मध्यम कुलो मे गृह सामुदायिक भिक्षा के लिए विचरते हुए अर्जुन अनगार को कही आहार मिलता तो पानी नही मिलता, कहीं पानी मिलता तो आहार नही मिलता। अत रूखा-सूखा जो भी आहार-पानी उन्हें मिलता, उसे अदीन, अविमन, अकलुष, अक्षोभित तथा विषाद आदि विक्षेप भावो से दूर रहकर ग्रहण करते। आहार प्राप्त करके आहार लेकर भगवान महावीर स्वामी के पास आते और उन्हें भिक्षा प्राप्त आहार-पानी दिखाकर उनकी आज्ञा लेते और गृद्धिपन से रहित जिस प्रकार साँप बिल मे प्रवेश करता है, उसी प्रकार रागद्वेष से रहित हो, उस आहार-पानी का सेवन करते हुए सयम का पालन करते थे।

एक बार श्रमण भगवान महावीर गुणशीलक उद्यान को छोड जनपद मे विहार करने लगे और महाभाग अनगार अर्जुन भगवान द्वारा दिये गए तथा स्वय स्वीकार किये हुए अत्यन्त प्रभावशाली, उदार, विपुल एव प्रधान तप कर्म से अपनी आत्मा को भावित करते हुए छह महीने तक चारित्र-पर्याय का पालन करते रहे। तदनन्तर पन्द्रह दिन की सलेखना कर, तीस भक्त अनशन छेदित कर जिस कार्य के लिए सयम स्वीकार किया था, उसे सिद्ध कर लिया, अर्थात् अव्याबाध सुख-सम्पन्न मोक्ष प्राप्त कर लिया।

× × ×

सुदर्शन के प्रेम व अभय दर्शन ने ऐसा चमत्कार दिखाया, जो तांत्रिक-यान्त्रिक भी नही दिखा सकते। वरना किसे आशा थी कि अर्जुन-जैसा क्रूर-हिंसक पापात्मा मात्र छह महीने के चारित्र पालन मे मोक्ष प्राप्त कर लेगा? जो अर्जुन देखते-देखते ही सात व्यक्तियो की हत्या कर देता था, जिसने अपने क्रूर हाथो से पाँच मास तेरह

---

१ उत्तराध्ययन २।२४-२६-२७

दिन मे ११४१ मनुष्य एव स्त्रियो की घात कर डाली, वह क्रूर मानव आज कितना उदार और कितना सहनशील बन गया। उसने क्रोध, मान, माया, लोभ चारो कषायो को जीत लिया।

अर्जुन अनगार उत्कृष्ट समभावी थे। किसी की गाली-गलौज और दुर्वचन उनको विचलित नही कर पाते थे। थप्पड-घूंसे ईंट-पत्थर खाने पर भी वे समभाव मे लीन रहते थे। हिंसक मानव क्षमा, प्रेम और अहिंसा की मूर्ति बन गया। जब अनगार अर्जुन गोचरी के लिए घूमते तो ऐसा लगता था कि महावीर स्वामी का धर्म-सदेश साक्षात् रूप धरकर घूम रहा है।

इस प्रकार अभयदर्शी श्रमणोपासक सुदर्शन और उत्कृष्ट समभावी साधक अर्जुन अनगार दोनो के चरित्र आदरणीय और अनुकरणीय हैं।

अतगडदसा सूत्र वर्ग ६, अध्ययन ३ समाप्त



१४

सिद्धगति प्राप्त गाथापति

वन्धुओ !

समता के महान साधक अर्जुन अणगार की जीवनगाथा आपको सुनाई गई है। जो व्यक्ति एक बात पर क्रुद्ध होकर छह महीने तक प्रतिदिन ७-७ मनुष्यो की घात करता रहा, इतना क्रूर क्रोधी स्वभाव वाला व्यक्ति भी जब समता के महान देवता भगवान महावीर के चरणो मे पहुँचकर समभाव का मत्र सीख जाता है तो, इतना सहिष्णु और इतना उदार बन जाता है कि लोग उसे ईंट-पत्थर घूंसे मारते हैं, उस पर मिट्टी-ककर व पत्थर फेंकते हैं, थूकते हैं और वह उन्हे सहन करता है, उन पर क्रोध नही करता, बल्कि यह सोचता है कि यह मेरे पूर्वजन्म एव इस जन्म मे किये गये कटु पापो का ही फल है, इसे भोगने से ही मेरी आत्म-शुद्धि हो सकती है।

पर्युषण के दिनों मे अर्जुनमाली अणगार का जीवन प्रसग सुनाने का लक्ष्य यही है कि हममे भी इसी प्रकार तितिक्षा एव समभाव के सस्कार जागृत हो।

अब इसी वर्ग मे अन्य आत्म-साधको, मुनियो के उज्ज्वल चरित्र भी आपको बताये गये हैं। इस वर्ग के अध्ययन ५ से १४ तक १० गाथापतियो का वर्णन है, जिन्होने पूर्ण वैराग्य प्राप्त कर कठोर सयम साधना की और केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए।—उनका वर्णन इस प्रकार है—

राजगृह मे राजा श्रेणिक का धर्म-राज्य था। इसी राजगृह मे 'काश्यप' नामक गाथापति रहते थे। काश्यप गाथापति ने मकाई गाथापति की तरह भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की और सोलह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्ध हुए।

काकन्दी नगरी के रहने वाले क्षेमक गाथापति ने भी काश्यप की तरह श्रमण भगवान महावीर से दीक्षा ले सोलह वर्ष तक दीक्षा-पर्याय का पालन किया और विपुलगिरि पर सिद्धत्व प्राप्त किया।

क्षेमक की तरह काकन्दी नगरी के ही निवासी धृतिधर गाथापति ने वीर प्रभु से दीक्षा लेकर सोलह वर्ष तक चारित्र का पालन कर विपुलगिरि पर मोक्ष प्राप्त किया।

साकेत नगरी के रहने वाले कैलास नामक गाथापति ने महावीर स्वामी से दीक्षा अगीकार की और बारह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की।

साकेत नगरी के ही निवासी हरिचन्दन गाथापति ने भी बारह वर्ष तक चारित्र का पालनकर विपुलगिरि पर सिद्धत्व प्राप्त किया।

वाणिज्य ग्राम के रहने वाले गाथापति सुदर्शन ने द्युतिपलाश उद्यान मे विराजमान भगवान महावीर से दीक्षा अगीकार की और पाँच वर्ष तक श्रमण-सयम का पालन कर विपुलगिरि पर मोक्ष प्राप्त किया।

इसी प्रकार वाणिज्य ग्राम निवासी पूर्णभद्र ने पाँच वर्ष तक सयम पालन किया, श्रावस्ती नगरी के सुमनभद्र गाथापति ने भी अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन किया, श्रावस्ती नगरी के ही निवासी सुप्रतिष्ठ गाथापति ने सत्ताइस वर्ष तक सयम का पालन किया तथा राजगृह नगर के गाथापति मेघ ने भी अनेक वर्षों तक चारित्र का पालन किया। इस प्रकार पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठ और मेघ गाथापति ने चारित्र पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धगति प्राप्त की।

अतगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन ४ से १४ तक समाप्त



१५

बालसाधक अतिमुक्तक

बन्धुओ,

आज आपके समक्ष एक ऐसे बाल साधक का वर्णन आ रहा है—

जिसका बचपन फूलो मे खिला, फूलो मे पला, खेल-कूद मे बीता। ऐसा एक राजकुमार बचपन मे वैराग्य के पथरीले-कटकाकीर्ण मार्ग पर चलने लगा। खेल-खेल मे ही वह प्रतिबुद्ध हुआ, साधना-पथ का राही बनकर उस बालसाधक ने पानी मे पात्र तैराकर नाव तैराने का खेल किया और इस खेल-खेल मे नाव तैराते-तैराते वह धर्म की नाव पर बैठकर बालसाधक अतिमुक्तककुमार ससार सागर को पार कर गया।

बड़े-बड़े अनुभव प्राप्त साधक मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते, पर एक छोटा-सा बालक क्रीडाभूमि को त्याग साधना-पथ पर कैसे अग्रसर हो गया, कैसे उसने मुक्ति का वरण किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। स्थूल जीवन मे ही देख लो, बुझे हुए कोयलो का ढेर क्या कर पाता है, जबकि आग की छोटी-सी चिनगारी ढेर-के-ढेर तृण समूह को स्वाहा कर देती है। दीपक की छोटी-सी लौ गहन अधकार को समाप्त कर देती है। शरीर छोटा हो या बडा, साधक बालक हो या युवा, साधक हृष्ट-पुष्ट हो या क्षीणकाय—इसमे कोई अन्तर नही पडता। अन्तर पडता है, आत्मबल से, आत्मा के जागने से और आत्मशक्ति को पहचानने से। इसलिए बालसाधक अतिमुक्तक-कुमार ने खेलने-कूदने और मौज उडाने की उम्र मे अपने बचपन को—मनुष्य जन्म को सार्थक कर लिया।

× × × ×

पुराने समय में पूर्व भारत मे नगरो मे उत्तम पोलासपुर नामक एक नगर था। पोलासपुर के शासक विजयसिह प्रजावत्सल और श्रमणोपासक शासक थे। उनकी रानी श्री देवी भी अत्यन्त सुशील, पतिपरायण और श्रमणोपासिका थी। श्रीदेवी का अगजात और नरेन्द्र विजयसिह का आत्मज अतिमुक्तक कुमार सौम्य, सुकुमार और मातृ-पितृ भक्त था।

एक बार पोलासपुर नगर के बाहर श्रमण भगवान महावीर श्रीवन उद्यान मे पधारे। गौतम स्वामी भगवान महावीर के प्रथम और ज्येष्ठ गणधर थे। गौतम स्वामी चौदह हजार साधुओ और छत्तीस हजार आर्याओ के सघ-सचालक और प्रमुख थे। किन्तु इतने पर भी उनमे असाधारण सादगी थी। वे अपना हर कार्य स्वय ही करते थे। बेले-बेले की तपस्या के अनन्तर पारणे के लिए स्वय ही झोली लिये ऊँच-नीच, मध्यम कुलो से भिक्षा के लिए घूमते। जब वे भगवान महावीर स्वामी के साथ पोलासपुर नगर के श्रीवन उद्यान मे आये तो भिक्षा का समय होने पर प्रभु की अनुमति ले भिक्षा के लिए पोलासपुर नगर मे आये और भिक्षा के लिए भ्रमण करने लगे।

उसी समय राजकुमार अतिमुक्तक स्नानादि करके वस्त्रालकार धारण कर अपने समवयस्क बालक-बालिकाओ के साथ क्रीडाभूमि मे अनेक खेल खेलने लगा। उन दिनो क्रीडास्थल को इन्द्रस्थान कहते थे। सभी बच्चे खेल-कूद मे मग्न थे। कुमार राजपुत्र थे, फिर भी साधारण बच्चो के साथ खेल रहे थे। उनके मन में केवल बचपन और बालक होने का आभास था। बाल मनोविज्ञान के अनुसार बच्चे सब बराबर हैं। क्रीडास्थल पर न कोई श्रेष्ठि पुत्र है, न राजपुत्र और न सेवक का लडका। बचपन मे जब श्रीकृष्णचन्द्र अपने साथियो के साथ खेल रहे थे तो हार-जीत के प्रश्न को लेकर बिगड गए, तभी एक साथी ने कहा—

"खेलत मे को काको गो सैंया।

अति अधिकार जनावत यातें, हैं कछु अधिक तुम्हारे गैया।"

हे कृष्ण! खेलने मे कोई किसी का स्वामी या बडा नही होता—सब बराबर होते हैं। तुम्हारे यहा कुछ गायें हम से अधिक हैं, इसलिए अति अधिकार दिखाते हो—रौब मारते हो? कृष्ण फिर सब मे हिल-मिलकर खेलने लगे। बचपन के खेल की तरह यह जीवन भी एक खेल है। इसमे सभी खिलाडी हैं, कोई जरा होशियार खिलाडी है, वह बाजी जीत लेता है, कोई जरा कमजोर और ढीला है वह खेल हार जाता है।

—यहाँ अतिमुक्तक कुमार भी प्रजा-बालको के साथ हिल-मिलकर खेल रहा था। उसी समय गौतम स्वामी इन्द्रस्थान (क्रीडा-स्थल) के पास से गुजरे। सभी बच्चो ने गौतम स्वामी को देखा। पर देखा-अनदेखा करके अपने खेल मे ही डूबे रहे। अति-मुक्तक कुमार ने भी गौतम स्वामी को देखा और देखता ही रह गया। दूध के समान श्वेत वस्त्र, मुख पर तप का तेज और शान्ति का साम्राज्य। ऐसा अद्भुत रूप उसने पहली बार ही देखा था। वह उनसे इतना प्रभावित हुआ कि क्रीडास्थल से चुपचाप खिसक आया और प्यासे नेत्रों से गौतम स्वामी को देखने लगा और फिर जब उसकी नेत्र-तृष्णा तृप्त हुई तो बोला—

के णं भते! तुब्भे, किं वा अडह?

"भगवन्! आप कौन हैं और क्यो घूम रहे हैं?"

वच्चे के भोले-सरल प्रश्न पर गौतम स्वामी मुग्ध हो गए। उन्होंने वालक से कहा—

"हे देवानुप्रिय! हम श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं। हम ईर्या-समिति आदि पाँच समितियो से युक्त पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं और ऊँच-नीच, मध्यम कुलो मे भिक्षा के लिए गोचरी करते हैं। इस समय मैं तुम्हारे शहर मे भिक्षा के लिए घूम रहा हूँ।"

सस्कारी वालक अतिमुक्तक कुमार के मन मे दान देने की भावना हिलोरें लेने लगी। उसने गौतम स्वामी की उँगली पकड ली और मचलते हुए कहा—

एह ण भंते! तुब्भे जण्ण अह तुब्भं भिक्खं दवावेमि त्ति कट्टु भगवं गोयमं अगुलिए गिण्हइ, गिण्हित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागए।

"आप मेरे साथ चलें। मैं अपनी माँ से आपको भिक्षा दिलवाऊँगा।"

उँगली पकड़े आगे-आगे राजकुमार अतिमुक्तक चल रहा है और पीछे-पीछे गौतम स्वामी ऐसे चल रहे हैं, मानो उन्हें अपने गन्तव्य का मार्ग मालूम नही है और यह वालक मार्ग दिखाता आगे-आगे चल रहा है।

अतिमुक्तक ने एक वार भी यह न सोचा कि मेरी माँ ने इन्हे भिक्षा न दी तो क्या होगा? सोचता भी क्यो, माँ का नित्य व्यवहार और माँ के डाले हुए सस्कारो ने ही तो अतिमुक्तक से गौतम स्वामी की उँगली पकडवायी थी। वह नित्य देखता था कि मेरी माँ मुक्तहस्त से दान करती है, दान देने मे उसे वडी खुशी होती है। गौतम स्वामी को घर ले जाने मे उसका एक उद्देश्य माँ को प्रसन्न करना भी तो था।

इस तरह उँगली पकड कर जाते हुए भले ही श्रमण-आचार मर्यादा का उल्लघन किया। लेकिन गौतम स्वामी इसमें भी एक भव्यात्मा का कल्याण देख रहे थे। क्योंकि कुछ मर्यादाएँ देश-काल परिस्थिति से वदलती भी हैं। मर्यादा आचार निर्वाह के लिए है। इस समय उनके मन मे वच्चे की भावना प्रधान थी। अगर वे वच्चे के हाथ से उँगली छुडा लेते तो उसका कोमल हृदय टूटकर चूर-चूर हो जाता, दान देने की जो उच्च भावना उसके हृदय मे आई थी, वह मर जाती और श्रमणो के विषय मे पता नहीं वह कैसी प्रतिकूल धारणा वना लेता। इसलिए वे अतिमुक्तक को उँगली पकडाये वढे चले जा रहे थे।

इसी प्रसग मे तथागत गौतम वुद्ध के जीवन की एक घटना का भी उल्लेख है। एक वार गौतम वुद्ध भिक्षापात्र लिये घूम रहे थे, तभी खेलते वालको के झुण्ड मे से एक वालक मुट्ठी में धूल लिये तथागत के पात्र मे डालने को वढा। पास खड़े लोगों ने वालक को डाँटा—"ठहरो! यह क्या करते हो?" तथागत ने लोगो को रोक दिया। वच्चे को देख उन्होंने अपना भिक्षापात्र वालक के आगे कर दिया और वालक उनके पात्र मे धूल डालकर वडा प्रसन्न हुआ, वह तालियाँ वजाता हुआ, फिर खेल मे लग गया। गौतम वुद्ध ने पास खड़े लोगो से कहा—

"वालक मे देने का सकल्प उत्पन्न हुआ। यदि मैं धूल की भिक्षा नही लेता तो उसमे देने की जो वृत्ति जाग्रत हुई थी, वह कुचल जाती—वच्चा निराश व दुखी हो जाता। उसमे जो 'वस्तु' देने का सकल्प उठा है, उसमे सुधार किया जा सकता है, अर्थात् धूल न देकर अन्न देने की भावना उसके मन मे बिठाई जा सकती है।"

महापुरुष मात्र शरीर ही नही देखते, व्यवहार के कलेवर मे ही नही बँधे रहते, वल्कि उसकी आत्मा का भी अध्ययन करते हैं। गौतम स्वामी ने अतिमुक्तक कुमार से उँगली न छुडाकर यही किया था।

गौतम स्वामी की उँगली पकड़े हुए अतिमुक्तक कुमार उन्हें अपने घर ले गया। गौतम स्वामी को देख राजरानी श्रीदेवी अत्यन्त प्रसन्न हुई। आसन से उठकर वह सात-आठ चरण सामने आयी और फिर तीन वार विधिवत् गौतम स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। फिर भक्तिभाव पूर्वक उन्हें रसोई घर मे ले गई और अशन, पान, खादिम, स्वादिम—चारो प्रकार का आहार वहराया और फिर उन्हें भवनद्वार तक पहुँचाने आई। अतिमुक्तककुमार गौतम स्वामी के साथ द्वार के वाहर तक आया और उनसे पूछने लगा—कहिण भंते! तुब्भे परिवसह ?

"भगवन्! आप कहाँ रहते हैं ?"

गौतम स्वामी ने कहा—

"देवानुप्रिय! मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक धर्म की आदि के करने वाले यावत् मोक्ष के कामी श्रमण भगवान महावीर इस पोलासपुर नगर के वाहर श्रीवन उद्यान मे कल्पानुसार अवग्रह लेकर तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विराजते हैं। मैं वही, उन्ही के पास रहता हूँ।"

अतिमुक्तककुमार की इच्छा हुई कि मैं भी भगवान के दर्शन करूँ। उसने गौतम स्वामी से पूछा—**गच्छामि णं भंते! अहं तुब्भेहिं सद्धिं समणं भगवं महावीरं पायवंदए ?**

"हे भगवन! मैं भी आपके साथ चलना चाहता हूँ। और भगवान महावीर की वन्दना करना चाहता हूँ। क्या आप मुझे अपने साथ ले चलेंगे ?"

गौतम स्वामी ने कहा—

"हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो।"

गौतम स्वामी की सहज-सुलभ अनुमति प्राप्त कर अतिमुक्तककुमार उनके साथ चल दिया और श्रीवन पहुँचकर श्री महावीर स्वामी की तीन वार वन्दना कर उपासना करने लगे। गौतम स्वामी ने भी वन्दन-नमस्कार कर भगवान को आहार दिखाया और आहार-पानी लेकर सयम-तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। भगवान महावीर ने अतिमुक्तक को धर्मकथा सुनाई। भगवान के श्रीमुख से धर्मकथा सुन अतिमुक्तक अतितुष्ट होकर इस प्रकार वोला—

"हे प्रभो ! मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

भगवान ने कहा—

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह—अर्थात् हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो, पर धर्मकार्य में प्रमाद मत करो।"

प्रभु ने बन्धन रहित और बन्धन मुक्त करने वाली आज्ञा अतिमुक्तक को दी। अतिमुक्तककुमार पोलासपुर नरेश विजयसिंह और रानी श्रीदेवी के समक्ष उपस्थित हुआ और माता-पिता के दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगा—

"हे माता-पिता ! आपकी आज्ञा होने पर मैं भगवान महावीर स्वामी से दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

अतिमुक्तक की ऐसी अप्रत्याशित और अनपेक्षित इच्छा सुनकर राजा-रानी अवाक् रह गये। उन्होंने कभी सोचा भी न था कि इस उम्र में अतिमुक्तक को वैराग्य हो जायगा। उन्होंने पुत्र को समझाते हुए कहा—

बाले सि ताव तुमं पुत्ता !
असंबुद्धोसि तुमं पुत्ता !
किण्ण तुम जाणासि धम्मं !

"हे पुत्र ! तुम अभी नादान बच्चे हो, तुम्हें तत्त्वों का ज्ञान नहीं है। हे पुत्र ! तुम धर्म को कैसे जान सकते हो ?"

बालक होते हुए भी अतिमुक्तक की आत्मा जाग चुकी थी। भगवान महावीर की अमृत वाणी ने उसे जानकार भी बना दिया था। अतः अतिमुक्तक ने अपने माता-पिता से विवेकपूर्ण और विनययुक्त वाणी में कहा—

जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि
जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि

"हे माता-पिता ! मैं जिसे जानता हूँ, उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूँ।"

अतिमुक्तक की यह पहेली उसके माता-पिता की समझ में नहीं आई। उन्होंने पूछा—

"हे पुत्र ! तुम्हारे इस विरोधी कथन का अर्थ हमारी समझ में नहीं आया। समझाकर कहो।"

अतिमुक्तक कुमार ने बताया—

"हे माता-पिता मैं यह जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, वह अवश्य मरेगा, 'जहा जाएणं अवस्सं मरियव्वं।'

किन्तु यह नही जानता कि वह किस काल, किस स्थान, किस प्रकार और कितने समय वाद मरेगा। इस प्रकार मैं जिसे जानता हूँ उसे नही जानता। इसी प्रकार मैं यह नही जानता कि किन कर्मों से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवयोनि मे उत्पन्न होते हैं, परन्तु यह अवश्य जानता हूँ कि सभी जीव अपने ही कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए मैं जिसे नही जानता, उसे जानता हूँ। इसलिए हे माता-पिता। आपकी आज्ञा होने पर मैं श्रमण भगवान महावीर के पास दीक्षा लेना चाहता हूँ।"

जब अतिमुक्तक के माता-पिता किसी भी युक्ति से उसे सयम-पथ से विमुख न कर सके तो हार कर बोले—

"पुत्र ! दीक्षा लेने से पहले कम-से-कम एक दिन तो राजसिंहासन पर बैठकर हमे अपनी राज्यश्री दिखा दो। हमारी आँखों को तृप्त कर दो !"

अतिमुक्तक सहमत हो गया। माता-पिता ने महावल के समान अतिमुक्तककुमार का राज्याभिषेक किया। राजा के रूप मे माता-पिता ने कुमार से पूछा—

"राजन् ! हमारे लिए आपकी क्या आज्ञा है ?"

कुमार ने कहा—

"मेरी दीक्षा का प्रवन्ध करो।"

समारोहपूर्वक अतिमुक्तककुमार दीक्षित हो गये और भगवान महावीर के शिष्य वन गये।

जल मे नाव

बचपन के वैराग्य मे सस्कार प्रधान होता है और ज्ञान गौण। अनगार अतिमुक्तक भी सस्कारी वैरागी थे, ज्ञानार्जन के द्वार पर तो अभी उन्होंने कदम ही रखा था। एक बार वे स्थविर मुनियो के साथ शौच के लिए गये। शौच से निवृत्त होकर वे जलाशय के पास आये और वालसुलभ चपलता के कारण पानी को एक मिट्टी की पाल से वाँधकर अपना पात्र पानी मे नाव की तरह तैराने लगा। जब अन्य मुनि लौटकर आये तो ताली वजाकर नाव तैराने का तमाशा दिखाने लगा। उसकी इस चंचलता-चपलता को देख मुनिगण बड़े क्षुब्ध हुए और वालसाधक अतिमुक्तक को डाँटते हुए बोले—

"अरे मूर्ख ! तू इस प्रकार खेल करके असख्य जीवो की हत्या करके खुश हो रहा है ?"

अतिमुक्तक मुनि कठोर वचन सुनकर सहम गया। डरकर उसने तुरन्त पात्र को झोली मे रख लिया और चुपचाप मुनियों के साथ हो लिया। मुनि लोग रास्ते मे भी उससे व्यग्य वचन कहते हुए आ रहे थे। उन्हें क्या पता था कि खेल-खेल मे नाव तैराने वाला एक दिन इस भवसागर से पार हो जायगा। अतिमुक्त को मुनियो की वात बुरी नही लगी। वह अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रहा था।

श्रमणो के मन में अनेक प्रकार के विचार आने लगे। सोचा—यह छोटा वालक

अभी सयम मार्ग को क्या जाने ? ऐसे ही साधु वन गया। फिर उनके मन मे शका हुई, अगर यह इसी प्रकार सयम मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करता रहेगा तो कैसे अपनी साघना मे सफल होगा ? वे वृद्ध स्थविर श्रमण भगवान महावीर की सेवा मे उपस्थित हुए, वन्दना करके पूछने लगे—

एव खलु देवाणुप्पियाणं अतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे।

से ण भते ! अइमुत्तेकुमारसमणें कइहिं भवग्गहणेंहिं सिज्झिहिइ जाव अतं करेहिइ ?[1]

भते ! आपका यह अन्तेवासी अतिमुक्तककुमार श्रमण कितने भव ग्रहण करके सिद्ध होगा ?

मर्वज्ञ प्रभु ने स्थविरो के मन की वात जानली। भगवान ने कहा—हे आर्यो ! मेरा वाल शिष्य अतिमुक्तककुमार श्रमण प्रकृति से वडा भद्र है, सरल है, विनीत है वह इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करेगा।"

फिर प्रभु ने कहा—

"आप लोग जरा-सी वात पर विचलित हो गये ? इस वालक की आत्मा इतनी जाग्रत है कि यह इसी जन्म मे मोक्ष-लाभ करने वाला है। यद्यपि इसने भूल की है, पर इसकी यह भूल उपहास करने के काविल नही है, उसे प्रेम से मार्ग दिखाना चाहिए। श्रमणो ! तुम उसकी हीनता, निन्दा और अवहेलना मत करो ! वह चरमशरीरी है। उसकी अवमानना मत करो ! किन्तु अग्लान भाव से, वात्सल्य पूर्वक, आहार से, पानी से, उसकी वेयावृत्य करो, उसका विनय करो, उसका सग्रह करो—प्रेमपूर्वक निकट रखो।"

इस प्रसग मे यह वात वडी ही उल्लेखनीय है कि एक ओर तो बाल साधु, श्रमण मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करता है, दूसरी ओर स्थविर उसकी कडी चेतावनी देते हैं, किन्तु सर्वज्ञ प्रभु उल्टे स्थविरो को ही उसकी सेवा, भक्ति और विनय करने की शिक्षा फरमाते हैं।

यहाँ पर जैनदर्शन का 'भविष्य द्रष्टा' स्वरूप उजागर होता है, वह व्यक्ति की वर्तमान प्रमत्त दशा की अपेक्षा उसकी आत्मा की विराट चेतना को महत्व देता है उसके उज्ज्वल भविष्य को देखता है। भविष्य मे वह महान वनने वाला है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वनने वाला है, आज वह वालक है तो क्या कल यही वालक सर्वज्ञ अरिहत वनेगा।

दूसरी वात भगवान महावीर के वाल-मनोविज्ञान की भी है। वे किसी अज्ञ व वाल भाव से मोहदशा प्राप्त वालक के हृदय को हीलना-निन्दा खिसना से तोड देना

---

१ भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४।

नहीं चाहते। हीलना से उसका उत्साह ही मर जायेगा। सभव है साधुओ से, स्थविरो से वह भयभीत हो जाए, नफरत ही करने लगे और सेवा मार्ग से दूर भाग जाय। इसलिए उसे घृणा की बजाय प्रेम और वात्सल्य देना चाहिए। जो कार्य प्रेम की पुचकार से हो सकता है, वह नफरत की फटकार से कभी नही होता। अस्तु,

भगवान के वचन सुनकर सभी स्थविर मुनियो ने अपने कार्य की आलोचना की और प्रभु की वन्दना कर अतिमुक्तककुमार श्रमण को खमाने लगे। उसकी विनय-भाव पूर्वक सेवा-सुश्रूषा करने लगे।[1]

इधर बालमुनि अतिमुक्तक भी साधना मे जुट गये—ज्ञान, सेवा और तपस्या की त्रिवेणी मे अवगाहन करने लगे। मुनि अतिमुक्तक ने सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया और फिर तन-मन अर्पण करके स्थविर मुनियो की सेवा में जुट गए और फिर अन्त मे तपस्या की तो ऐसी की, अपने को कुन्दन बना डाला। उन्होने गुणरत्न सवत्सर तप[2] की कठोर आराधना की और सथारा करके विपुलगिरि पर सिद्धत्व प्राप्त किया।

बाल साधक अतिमुक्तक ने खेल-खेल मे ही गौतम स्वामी की उँगली पकडी थी और साधना-पथ मे भी एक दिन पानी मे नाव तैराने का खेल किया था। पात्र की नाव तैराने का नाटक करने वाले अतिमुक्तक ने अपनी नौका भी ससार-सागर को पार कर किनारे लगा ली।

अतगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १५ समाप्त

---

१ जल मे नौका चालन का यह सम्पूर्ण प्रसग अन्तगडदसा सूत्र मे नही है, भगवती सूत्र ५/४ मे इसका वर्णन है।

२ गुणरत्न सवत्सर तप का वर्णन परिशिष्ट २ मे देखें।

१६

वाराणसी नरेश महाराज अलक्ष का मोक्षलाभ

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले वाराणसी नगरी मे अलक्ष नामक राजा राज्य करता था। वाराणसी नगर के बाहर महाकामवन नामक बहुत सुन्दर उद्यान था। एक बार तीर्थंकर-परम्परा का पालन करते हुए श्रमण भगवान महावीर वाराणमी नगरी पधारे और नगर के बाहर महाकामवन मे विराजमान हुए। प्रभु का आगमन सुन नगरी की जनता उनकी धर्मसभा मे पहुँची, राजा अलक्ष भी वीर प्रभु के दर्शन-वन्दन करने गया। कोणिक राजा के समान भगवान महावीर को वन्दन-नमस्कार कर उनकी सभा मे बैठ गया। भगवान ने सबको धर्मकथा सुनाई।

धर्मकथा सुनकर राजा अलक्ष के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। प्रतिबुद्ध राजा ने उदायन राजा के समान भगवान के पास दीक्षा अगीकार कर ली। राजा उदायन ने अपने भानजे को राजमुकुट सौंपा था और राजा अलक्ष ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य शासन सौंपा था। मुनि अलक्ष ने ग्यारह अगो का अध्ययन किया और अनेक वर्षों तक चारित्र-पर्याय का पालन करके विपुलगिरि पर सिद्ध गति प्राप्त की।

अन्तगडदसा सूत्र का यह छठा वर्ग समाप्त हुआ।

अन्तगडदसा सूत्र, वर्ग ६, अध्ययन १६

☆

१७

त्रयोदस रानियों की दीक्षा

बधुओ !

अन्तगड सूत्र के छ वर्ग का वाचन आपके समक्ष किया जा चुका है, अब सातवां वर्ग प्रारम्भ हो रहा है। ७-८ इन दो वर्गों मे महाराज श्रेणिक की २३ रानियो की दीक्षा एव तपस्या का रोचक वर्णन है। इस वर्णन से यह ध्वनित होता है कि आत्म-साधना एव तपस्या का पथ पुरुषो के लिए ही नही नारियो के लिए भी सदा खुला रहा है। पुरुष की भांति स्त्री भी साहस, धैर्य और कठोर सकल्प के साथ इस पथ पर बढी है। चाहे भगवान आदिनाथ का युग रहा हो, चाहे नेमिनाथ का युग रहा हो, या भगवान महावीर का युग। स्त्री सदा ही आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर रही है। हां तो, इस वर्ग मे १३ अध्ययन हैं और उसमे निम्न तेरह रानियो का वर्णन है—

अन्तकृत् दशा सूत्र के ७वें वर्ग में आपके समक्ष राजा श्रेणिक की तेरह रानियो की दीक्षा एव निर्वाण प्राप्ति का वर्णन किया जा रहा है। इन रानियो के छुट-पुट जीवन प्रसग आगमो एव अन्य टीका ग्रन्थो में कही-कही मिलते हैं। इनमे रानी नन्दा जो अभयकुमार की माता थी उसका वर्णन ग्रन्थो मे काफी विस्तार से मिलता है।

सातवें वर्ग का वर्णन राजा श्रेणिक की वर्तमानता का ही है। रानियां प्रतिबुद्ध होकर राजा श्रेणिक से आज्ञा लेकर भगवान के पास दीक्षा लेती हैं। ग्रन्थो के अनुसार इस प्रसग की पृष्ठभूमि के रूप मे राजा श्रेणिक की भगवान महावीर से वह जिज्ञासा है, जिसमे उसने अपने भावी जीवन के विषय मे पूछा, भगवान ने उसकी अगली गति बताई—नरक ! इससे मुक्त होने के अनेक उपाय श्रेणिक महाराज ने किये, पर 'कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि' किये हुए कर्म विना भोगे छूटते नहीं। इस घटना के वाद श्रेणिक राजा का मन ससार से उदासीन रहने लगा। उसने धर्म-दलाली विशेष रूप से प्रारम्भ की और राज्य मे घोषणा करवाई कि जो भी व्यक्ति दीक्षा लेना चाहें वे प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा लें, उनको किसी भी प्रकार की वाधा आदि होगी तो उसका निराकरण मैं करूंगा, पीछे वाले परिवारीजनो की व्यवस्था आदि का भार भी राज्य पर होगा।

इस घोषणा का लाभ उठाकर नन्दा आदि तेरह रानियां भी तुरन्त दीक्षा के

लिए तैयार हुई और भगवान महावीर के चरणो मे पहुँची। इनका वर्णन इस सातवें वर्ग मे इस प्रकार है—

मगधराज नरपाल श्रेणिक की राजधानी थी राजगृह। राजा श्रेणिक की अनेक रानियो मे तेरह रानियो ने भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा अगीकार की और दीक्षा पर्याय का पालन कर मोक्ष प्राप्त किया। इन तेरहो के नाम हैं—

(१) नन्दा, (२) नन्दवती, (३) नन्दोत्तरा, (४) नन्दश्रेणिका, (५) मरुता, (६) सुमरुता, (७) महामरुता, (८) मरुद्देवा, (९) भद्रा, (१०) सुभद्रा, (११) सुजाता (१२) सुमनातिका और (१३) भूतदत्ता।

एक वार श्रमण भगवान महावीर राजगृह पधारे और राजगृह के वाहर गुणशीलक नामक उद्यान मे विराजमान हुए। नगर की जनता प्रभुवन्दन को गुणशीलक उद्यान पहुँची। महावीर स्वामी का आगमन सुन रानी नन्दा वहुत प्रसन्न हुई। जिस प्रकार कृष्णप्रिया रानी पद्मावती धर्मरथ पर चढकर भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन-वन्दन करने सहस्राम्रवन पहुँची थी, उसी प्रकार रानी नन्दा ने भी धर्मरथ तैयार कराया और पद्मावती के समान भगवान महावीर के दर्शन-वन्दन करने पहुँची। भगवान ने धर्मपरिषद को धर्मकथा सुनाई। भगवान महावीर के श्रीमुख से धर्मतत्व सुनकर रानी नन्दा का वैराग्य हुआ और उसने प्रभु के पास दीक्षा अगीकार करली। तदनन्तर ग्यारह अगो का अध्ययन किया और वीस वर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन कर सिद्ध गति प्राप्त की।

रानी नन्दा की तरह नन्दवती, नन्दोत्तरा आदि अन्य वारह रानियो ने भी सयम का पालन कर सिद्धत्व प्राप्त किया।

अन्तगडदसा सूत्र, वर्ग ७ अध्ययन १ से १३ तक समाप्त



१८

काली महाकाली आदि रानियों द्वारा तपश्चरण एवं मोक्षलाभ

बधुओ !

अतकृत सूत्र का यह आठवा वर्ग इस सूत्र का अन्तिम वर्ग है। इसके दस अध्ययन हैं। इनमे राजा श्रेणिक की १० रानियो की दीक्षा, तपस्या आदि का बडा ही रोमाचक वर्णन है। सुख-सुविधा मे पलने वाली सुकुमार रानियाँ भी कितना कठोर तपश्चरण करके आत्मा के कुन्दन को चमका सकती है यह इस अध्ययन के वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा।

पृष्ठभूमि

अतकृत सूत्र मे काली आदि रानियों की दीक्षा के वर्णन से ही प्रारम्भ किया गया है। इसकी पृष्ठभूमि मे एक बहुत ही लोमहर्षक घटना छिपी है, सक्षेप मे मैं उसका वर्णन आपके समक्ष करता हूँ ताकि आगे का वर्णन समझने मे सुविधा रहे।

राजा श्रेणिक के अनेक रानियाँ थी। चेलणा, धारिणी, दुर्गन्धा आदि की कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं। १३ रानियो का नामोल्लेख ७ वें वर्ग मे आया ही है। इसी प्रकार काली, सुकाली, महाकाली-आदि १० रानियो के नाम इस वर्ग मे आये हैं।

चेलना रानी के तीन पुत्र थे—कूणिक, हल्ल और विहल्लकुमार। इनका विस्तृत वर्णन निरयावलिका के कप्पिया नामक आगम के प्रथम अध्ययन मे है। कूणिक ने राज्य लोभ मे फसकर श्रेणिक को जेलखाने मे वन्द कर दिया था और वही आखिर उसकी मृत्यु हुई। जब रानी चेलना ने उसकी आँखें खोली, कि श्रेणिक राजा का कूणिक पर अपार स्नेह और प्रेम था, तो वह पितृप्रेम से विह्वल हो गया। श्रेणिक की मृत्यु के वाद उसे पितृशोक सताने लगा। इस शोक के कारण वह राजगृह छोडकर चपा नगरी को अपनी राजधानी वनाकर रहने लगा।

राजा श्रेणिक ने अपने हाथो से अपने सभी पुत्रो को राज्य-सम्पत्ति का वँट-वारा कर दिया था। उस समय हल्ल-विहल्ल कुमार को सेचनक हाथी और देवप्रदत्त दिव्य हार और कुंडल दिये गये। श्रेणिक की मृत्यु के वाद सभी भाई चपा मे आ गये। हल्ल-विहल्लकुमार सेचनक हाथी पर चढकर दिव्य हार धारण कर अपनी

रानियो के साथ क्रीडा करते थे। उनके इस आनन्द विहार से राजा कूणिक की रानी पद्मावती ईर्ष्या करने लगी। उसने कूणिक को भाइयो से हार व हाथी छीनने के लिए विवश कर दिया। कूणिक ने हल्ल-विहल्ल से हार व हाथी की अनुचित मांग की। इस माग से क्षुब्ध एव भयभीत होकर दोनो भाई अपने परिवार के साथ रातोरात चपा छोडकर अपने नाना राजा चेटक की शरण मे वैशाली पहुँच गये।

कूणिक ने भाइयो को और हार तथा हाथी को चेटक से मांगा। चेटक ने न्याय का पक्ष लिया और कहा—शरणागत रक्षा और न्याय के लिए सहायता करना मेरा क्षत्रिय धर्म है। हल्ल-विहल्ल का पक्ष न्यायपूर्ण है, इसलिए इनको लौटाना असमव है। वस, अपने वाहुवल एव सैन्य वल के मद मे छक कर कूणिक ने अपने दस विमातृ-वधु कालकुमार, सुकाल कुमार आदि जो काली, सुकाली आदि दस विमाताओं के पुत्र थे, उनको वुलाया और अपने-अपने सैन्यवल के साथ तैयार होकर वैशाली पर आक्रमण करने का आदेश दिया। चपा और वैशाली के वीच—अर्थात् नाना और दोहिता के वीच एक भयकर सग्राम हुआ। कूणिक के पूर्वभव के दो मित्र इन्द्र—चमरेन्द्र और शक्रेन्द्र ने उसकी सहायता की। महाशिला कटक एव रथमूसल नामक दो महायुद्धो की रचना हुई और कूणिक, कालकुमार आदि ग्यारह वधु इधर और चेटक राजा, नव मल्ली, नवलच्छी आदि अठारह गणराजा एव हल्ल-विहल्ल आदि उधर।

यह सग्राम जिस समय वैशाली के रणक्षेत्र में हो रहा था उस समय भगवान महावीर चपा नगरी मे पधारे। काली, सुकाली, महाकाली आदि रानियां जहां इस गृहयुद्ध से दुखी थी, वहां अपने पुत्रो की चिंता मे घुल रही थी। भगवान महावीर का पदार्पण सुनकर दसो रानियाँ भगवान के समवसरण मे आईं। वदना आदि करके प्रभु की धर्म देशना सुनी और फिर आकर भगवान से पूछा—भते! हमारे कालकुमार आदि पुत्र राजा कूणिक के साथ वैशाली के रणक्षेत्र मे गये हैं, क्या हम उनको वापस जीवित देख सकेंगी?

सर्वज्ञ प्रभु ने वस्तुस्थिति को देखकर इस महायुद्ध का घटनाक्रम सुनाया और वताया—हे रानियो कालकुमार आदि दसो भाई एक-एक करके इस रणक्षेत्र मे काल को प्राप्त हो गये हैं। तुम उन्हे जीवित नही देख सकोगी।

यह हृदय वेधक समाचार सुनते ही रानियां मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ती हैं। फिर चेतना पाकर पश्चात्ताप आर्तध्यान करती हैं। इस समय भगवान उनको ससार की असारता एव जीवन की क्षणभगुरता का दर्शन कराते हैं और दसो रानियो का हृदय प्रतिवुद्ध हो जाता है।

काली आदि रानियो का भगवान से पुत्रो के जीवित प्रश्न तक का वर्णन निरयावलिका (१) मे आया है। अतकृत् सूत्र मे अव उसका अगला वर्णन आपके सामने है।

उस समय मे धनधान्य से सम्पन्न चम्पा नगरी थी। राजा कोणिक वहाँ का राजा था। चम्पानगरी के वाहर पूर्णभद्र नाम का एक पुराना उद्यान था। एक बार श्रमण भगवान महावीर पूर्णभद्र उद्यान मे पधारे। राजा कोणिक की लघुमाता और राजा श्रेणिक की रानी काली देवी ने भगवान की धर्म देशना सुनी तो प्रतिवुद्ध होकर प्रभु के पास दीक्षा अगीकार करली और दीक्षा के अनन्तर उपवास, वेला, तेला आदि करते हुए विचरण करने लगी।

एक दिन काली आर्या चन्दनवाला आर्या के पास आई और विनीत-भाव से हाथ जोडकर इस प्रकार कहने लगी—

"हे पूज्य ! आपकी आज्ञा हो तो मैं रत्नावली तप करना चाहती हूँ।"

आर्या चन्दनवाला ने सहज अनुमति देते हुए काली आर्या से कहा—

"हे देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसा करो किन्तु धर्मसाधना मे प्रमाद मत करो।"

इस प्रकार परम साधिका आर्या चन्दनवाला से अनुमति प्राप्त कर काली आर्या रत्नावली तप करने लगी। उनके रत्नावली तप का क्रम जो शास्त्रविहित है, इस प्रकार रहा—

पहले उपवास किया, फिर पारणा किया। उनके पारणा मे विगयो का सेवन वर्जित नही था। इस प्रकार पारणा करके वेला किया, फिर पारणा करके तेला किया, फिर आठ वेले किये और फिर उपवास किया। उसके वाद फिर वेला किया, फिर तेला किया। इस प्रकार अन्तर रहित चोला, पचोला, छह, सात, आठ, नौ से लेकर सोलह तक किये। चौतीस वेले पूरे किये। फिर पारणा करके सोलह दिन की तपस्या की। फिर पारणा करके पन्द्रह दिन की तपस्या की। इस प्रकार पारणा करती हुई क्रमश चौदह, तेरह, वारह, ग्यारह, दस, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक उपवास किया। पारणा करके फिर आठ वेले किये। पारणा करके तेला किया। पारणा करके फिर वेला किया। फिर पारणा करके उपवास किया और फिर पारणा किया।

इस प्रकार काली आर्या ने रत्नावली तप की एक लडी अथवा परिपाटी—एक वर्ष, तीन महीने और वाईस दिन मे पूरी की। इस एक परिपाटी मे तीन सौ चौरासी दिन तपस्या के और अठासी दिन पारणा के होते हैं। इस प्रकार कुल चार सौ वहत्तर दिन होते हैं।[1]

इसके वाद काली आर्या ने रत्नावली तप की दूसरी परिपाटी प्रारम्भ की। इस वार पारणे मे उन्होंने दूध, दही, घी, तेल और मीठा—इन पाँच विगयो का लेना

---

१ सचित्र वर्णन परिशिष्ट २ मे देखें।

वन्द कर दिया। पहली परिपाटी मे इन विगयो का निषेध नही किया था, दूसरी मे इनका पूर्णत त्याग किया।

काली आर्या ने रत्नावली तप की चारो परिपाटी कीं। चारो मे पहली परिपाटी सर्वकामगुणयुक्त रही, दूसरी मे विगय त्याग, तीसरी मे लेप का भी वर्जन और चौथी आयविल से की गई। इस प्रकार रत्नावली तप की चारो परिपाटियां आर्या काली ने पांच वर्ष, दो मास और अट्ठाइस दिन मे पूर्ण की और तदनन्तर आर्या चन्दनवाला के समक्ष उपस्थित होकर उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। रत्नावली तप पूर्ण करके वे बहुत-से उपवास, वेला, तेला आदि तपो से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगीं।

काली आर्या ने उग्र तपश्चर्या द्वारा अपने शरीर को अत्यन्त कृश बना दिया। रक्त-मास तो उनके शरीर मे रहा ही नही। पूरे शरीर मे नसो का जाल उभर आया। उनका शरीर मात्र हड्डियो का ढांचा शेष रह गया। उठते-बैठते, चलते-फिरते उनके शरीर की हड्डियो से कड-कड शब्द होता था। जिस प्रकार सूखी लकडियो से भरी गाडी अथवा सूखे पत्तो या कोयलो से भरी गाडी के चलने से (खड-खड) ध्वनि होती है, वैसी ही ध्वनि उनकी हड्डियो से होती थी। तप से हुए ऐसे जर्जर शरीर पर भी उनका मस्तक, मुख आदि तप के तेज से चमक रहा था। राख से ढकी अग्नि कभी छिपी नही रह पाती, सूखे-जर्जर शरीर से उनके तप की शोभा वरवस ही अपनी ओर खीच लेती थी।

निरन्तर उग्र तपस्या के इसी क्रम मे एक दिन पिछली रात्रि के समय काली आर्या ने स्कन्दक मुनि के समान विचार किया—

'तप के कारण मेरा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है। इसलिए जव तक मुझ मे उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम, श्रद्धा, घृति और सवेग आदि विद्यमान है, तव तक मुझे उचित है कि सूर्योदय होते ही आर्या चन्दनवाला से पूछकर सलेखना-झूषणा को सेवित करती हुई भक्तपान का प्रत्याख्यान करके मृत्यु की इच्छा न करती हुई विचरण करूँ।'

ऐसा निश्चय कर दूसरे दिन सूर्योदय होते ही काली आर्या चन्दनवाला आर्या के पास गईं और वन्दन नमस्कार के अनन्तर चन्दना आर्या से वोली—

"हे आर्ये! मैं आपकी आज्ञा प्राप्त करके सलेखना-झूषणा करना चाहती हूँ।"

उत्तर में आर्या चन्दनवाला ने कहा—

"हे देवानुप्रिये! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो, पर धर्मकार्य में विलम्व मत करो।"

इस प्रकार परम साध्वी चन्दनवाला से अनुज्ञा प्राप्त करके काली आर्या ने सलेखना की।

काली आर्या ने सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया और

पूरे आठ वर्ष तक चारित्र का पालन किया। अन्त मे एक मास की सलेखना से आत्मा को भावित कर साठ भक्तो के अनशन का छेदन कर जिस अर्थ के लिए सयम ग्रहण किया था, उस अर्थ को अपने अन्तिम उच्छ्वासो मे प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गईं।

चम्पानगरी के राजा कोणिक की विमाताएँ तथा श्रेणिक की रानियाँ—सुकाली, महाकाली, कृष्णादेवी, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेन कृष्णा और महासेनकृष्णा—इन नौ देवियो ने भी पूर्णभद्र उद्यान मे विराजित भगवान महावीर से दीक्षा अगीकार की और आर्या चन्दनबाला के समीप विविध प्रकार के तप करके मोक्ष प्राप्त किया। इन नौ देवियो ने काली देवी के समान क्रमश एक-एक वर्ष अधिक दीक्षा-पर्याय का पालन किया। जैसे काली आर्या ने आठ वर्ष, सुकाली ने नौ वर्ष, महाकाली ने दस वर्ष, कृष्णा देवी ने ग्यारह वर्ष। शेष ने भी इसी क्रम से एक-एक वर्ष अधिक चारित्र पर्याय का पालन किया।

किस देवी ने किस-किस व्रत का, कैसे-कैसे पालन करके मोक्ष लाभ किया, इसका वर्णन क्रमश इस प्रकार है—

सुकाली आर्या ने चन्दनबाला आर्या से अनुमति प्राप्त कर 'कनकावली' तप[1] किया। काली आर्या ने रत्नावली तप किया था, जिसका पूर्ण वर्णन यथास्थान ऊपर दिया गया है। इन दोनो तपो में अन्तर यह है कि रत्नावली तप मे जहाँ तीन स्थानो पर आठ-आठ और चौंतीस बेले किये जाते हैं, वहाँ कनकावली तप मे उतने ही तेले किये जाते है। कनकावली तप की एक परिपाटी मे एक वर्ष, पांच महीने और बारह दिन लगते हैं। इसमे अठासी दिन पारणे के और एक वर्ष, दो महीने और चौदह दिन तपस्या के होते हैं। चारो परिपाटी को पूरा करने मे पांच वर्ष, नौ महीने और अठारह दिन लगते हैं। इनका सारा साध्वी जीवन काली आर्या के समान है। नौ वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन कर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

महाकाली आर्या ने 'लघुसिंह-निष्क्रीडित' नामक तप किया।[2] इसकी एक परिपाटी मे छह महीने सात दिन लगते हैं। पारणे के तेतीस दिन और तपस्या के पाँच मास, तीन दिन होते है। महाकाली आर्या ने इस तप की चारो परिपाटियाँ दो वर्ष अट्ठाइस दिन मे पूर्ण की। लघुसिंह-निष्क्रीडित तप को पूर्ण करने के बाद भी महाकाली ने अनेक फुटकर तप किये और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया।

कृष्णादेवी आर्या ने 'महासिंह-निष्क्रीडित' तप किया। लघुसिंह-निष्क्रीडित तप मे एक उपवास से लेकर नौ उपवास तक ऊपर चढकर उसी क्रम से पीछे उतरा जाता है, किन्तु-महासिंह-निष्क्रीडित तप मे एक उपवास से लेकर सोलह उपवास तक ऊपर

१—२ सचित्र वर्णन परिशिष्ट २ मे देखें।

चढकर फिर उसी क्रम से नीचे उतरा जाता है। इसकी एक परिपाटी मे एक वर्ष, छह महीने और अठारह दिन लगे। इसमे इकसठ पारणे हुए और एक वर्ष चार महीने और सत्तरह दिन तपस्या मे लगे। इसकी चारो परिपाटियाँ कृष्णा आर्या ने छह वर्ष, दो महीने और बारह दिन में पूर्ण की। इस प्रकार उग्र तप करने के अनन्तर सथारा करके मोक्ष प्राप्त किया।

सुकृष्णा आर्या ने 'सप्तसप्तमिका' भिक्षु प्रतिमा तप किया। इसके बाद अष्ट-अष्टमिका भिक्खुपडिमा तप किया। यह व्रत चौसठ दिन-रात मे पूर्ण हुआ। इसके बाद नवनवमिका भिक्षु प्रतिमा अँगीकार की। यह भिक्षुप्रतिमा इक्यासी दिन-रात मे पूर्ण हुई। इसके बाद दशदशमिका भिक्षुप्रतिमा अगीकार की। यह भिक्षुप्रतिमा सौ दिन-रात मे पूर्ण की। इन प्रतिमाओ के अनन्तर सुकृष्णा आर्या ने अर्द्धमास खमण, मास खमण आदि विविध प्रकार की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए अन्त मे सथारा करके सिद्ध गति प्राप्त की।

महाकृष्णा आर्या ने 'लघु-सर्वतोभद्र' तप किया। इसकी एक परिपाटी मे पूरे सौ दिन लगते हैं। इसमे पच्चीस दिन पारणे के और पचहत्तर दिन तपस्या के होते हैं। इसकी चारो परिपाटियो को पूर्ण करने मे महाकृष्ण आर्या को एक वर्ष, एक मास और दस दिन लगे। इस प्रकार तप से सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करके सथारा किया और सिद्धत्व प्राप्त किया।

वीर कृष्णा आर्या ने महा सर्वतोभद्र तप किया। इसकी सात लडी की एक परिपाटी मे आठ महीने, पाँच दिन लगते हैं। इसमे उनचास दिन पारणे के और छह मास, सोलह दिन तपस्या के होते हैं। वीर कृष्णा आर्या ने इसकी चारो परिपाटी दो वर्ष, आठ मास और बीस दिन मे पूर्ण की और चौदह वर्ष चारित्र पर्याय का पालन करके अन्त मे सिद्धत्व प्राप्त किया।

रामकृष्णा देवी ने 'भद्रोत्तर प्रतिमा' तप किया। इस तप की एक परिपाटी मे पाँच लडी होती हैं और छह-महीने-बीस दिन लगते हैं। रामकृष्णा देवी ने दो वर्ष, दो मास और बीस दिन मे चारो परिपाटी पूर्ण की और पन्द्रह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर अन्त मे सिद्ध गति प्राप्त की।

पितृसेन कृष्णा ने मुक्तावली तप किया। इसकी एक परिपाटी मे ग्यारह महीने, पन्द्रह दिन लगते हैं। आर्या पितृसेन कृष्णा ने इसकी चारो परिपाटी तीन वर्ष दस महीने में पूर्ण कीं। इस प्रकार विविध तप करते हुए सोलह वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन कर अत मे सथारा करके सिद्धत्व प्राप्त किया।

महासेन कृष्णा ने 'आयम्बिल वर्द्धमान' नामक तप किया। इन्होंने चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन मे 'आयम्बिल वर्द्धमान' नामक तप पूर्ण किया। इसमे आय-म्बिल के पांच हजार पचास दिन होते हैं और उपवास के सौ दिन होते हैं। इसमे

कुल मिलाकर पांच हजार एक सौ पचास दिन होते हैं। इस तप मे चढना-उतरना नही है।

आर्या महासेन कृष्णा ने अन्य आर्याओ की भांति आर्या चन्दन बाला से अनुमति लेकर सथारा किया और मरण को न चाहती हुई धर्मध्यान—शुक्ल ध्यान मे तल्लीन रहने लगी।

'इन्होंने ग्यारह अगो का अध्ययन किया और सत्तरह वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन किया। अन्त मे एक मास की सलेखना से आत्मा को भावित करते हुए, साठ भक्तो को अनशन से छेदित कर, अन्तिम श्वासोच्छ्वास मे अपने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मोक्ष मे पहुंचीं।

इस प्रकार चम्पा नरेश कोणिक की माता-विमाता तथा राजा श्रेणिक की रानियो—दस देवियो ने सिद्ध गति प्राप्त की। अतगड सूत्र का यह वैराग्य एव समता मूलक वर्णन आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आशा है आप पर्युषण के पवित्र दिनो मे इन प्रेरक जीवन प्रसगो से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को भी तप-त्याग-तितिक्षा की ओर गतिशील बनायेंगे।

अतगडदसा सूत्र वर्ग ८, अध्ययन १ से १० तक समाप्त



प्रस्तुत पुस्तक के पठन-वाचन में सहायक सरल साहित्य

□ कल्पसूत्र के अन्तर्गत—

१ आराध्य देव २४ तीर्थंकरो के पवित्र जीवन चरित्र का पूर्ण अध्ययन करने के लिए पढ़ें—

जैन कथामाला, भाग ४, ५, ६

—इन तीनो भागो मे भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर तक का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त मिलेगा ।

२ विस्तारपूर्वक भगवान महावीर का जीवन-चरित्र पढने के लिए—

तीर्थंकर महावीर (मूल्य १०)

३ भगवान महावीर के पश्चात्वर्ती श्रुतधर प्रभावक आचार्यों की पट्ट-परम्परा (पट्टावली-स्थविरावली) पढने के लिए वीर निर्वाण सवत् १ से वीर निर्वाण सवत् १६०० तक का रोचक इतिहास पढ़ें—

जैन कथामाला, भाग १४, १५, १६, १७

—इन चारो भाग मे ऐतिहासिक घटनाएँ है ।

□ अन्तगडसूत्र के अन्तर्गत—

४ महाराज श्रेणिक, चेलणा, अभयकुमार, कूणिक आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण घटनाएँ—

जैन कथामाला, भाग ७, ८, ९

—इन तीन भागो मे श्रेणिक से सम्बन्धित प्राय. सभी कहानियाँ विस्तारपूर्वक दी हैं ।

५ भगवान महावीर युग के प्रमुख उपासको, वैरागी मुनियो के जीवन-वृत्त पढिए—

जैन कथामाला, भाग १०, ११, १३

६ वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार का सरस सम्पूर्ण जीवन-चरित्र पढिए—

वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार (जैन कथामाला, भाग १२)

उपरोक्त सम्पूर्ण साहित्य के लिए सम्पर्क करें—

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

कथाभाग

१ क्षमावीर उदायन
२ दुर्दान्त शत्रु को जीतने वाला कुलपुत्र
३ सर्वश्रेष्ठ तप—क्षमा
४ क्रोध को कैसे जीतें ?

परिशिष्ट २

तपोभाग

१ गुणरत्न सवत्सर तप
२ रत्नावली तप
३ कनकावली तप
४ मुक्तावली तप
५ लघुसिंह निष्क्रीडित तप
६ महासिंह निष्क्रीडित तप
७ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तप
८ महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप
९ भद्रोत्तर प्रतिमा तप
१०. आयबिलवर्धमान तप
११ बारह भिक्षु प्रतिमाएँ
१२ तपों के चित्र

परिशिष्ट ३

उपशामना सूत्र

परिशिष्ट १

पर्युषण की सार्थकता—

क्षमावीर उदायन

नारी का स्वभाव, उसका मन, उसकी वृत्ति नारी-जैसी ही होती है—होनी भी चाहिए। भले ही वह रानी हो या दासी, अनिन्द्य सुन्दरी हो या कुरूपता की साकार प्रतिमा। कौशाम्बी नरेश उदायन के देव-मन्दिर की पुजारिन दासी कुब्जा कुरूप थी, भद्दी थी—काली-कलूटी थी, पर नारी-हृदय उसके भी था। वह भी चाहती थी कि उसके मन का रीतापन भर जाए और उसकी अपूर्णता पूर्णता की संज्ञा ले ले। लेकिन हृदय किसे दीखता है? पतगो को दीपक का 'स्नेह' (तेल) कब दीखा है? उन्हें दीखती है, मात्र लौ। और लौ पर ही शलभ अपने प्राण होम देता है। कुब्जा के पास सौन्दर्य नहीं था—पुरुष रूपी पतगो को आकर्षित करने वाली रूपशिखा न थी, पर स्नेह से वह रीती नहीं थी।

कुब्जा मे सेवावृत्ति गजब की थी। जब वह मन लगाकर सेवा करती तो अतिथि उसकी निष्ठा पर बलिहार हो जाता। कुब्जा इसी मे सन्तोष कर लेती। एक बार गान्धार देश से आये एक पुरुष को उसने अपनी सेवा से प्रसन्न किया। पुरुष ने उसे पुरस्कार में दी एक दिव्य गुटिका। कुब्जा ने गुटिका—गोली अथवा गुलिका को ज्यों निगला कि वह कुछ-से-कुछ हो गई। देखने पर लगा कि विश्व की रूपराशि सब इसी मे पुंजीभूत हो गई है। कुब्जा अब अनिन्द्य सुन्दरी, मोहिनी और स्वर्णवर्णी हो गई। उसका नाम भी अब कृष्णा कुब्जा से बदल कर स्वर्णगुलिका हो गया।

अब स्वर्णगुलिका के लिए पतगो की कमी न थी। पर उसके पास आने का साहस भी किसी मे नहीं था। वह अब भी दासी ही थी। लेकिन स्वदार सतोषी द्वादश-व्रती श्रावक सिंधु सौवीर देश के स्वामी उदायन के लिए तो वह 'परदारेषु मातृवत्' थी। अन्य किसी मे इतना साहस नही था जो देव पुजारिन का पुजारी बनता। नारी, मात्र पुरुष की भूखी नहीं होती—वीर पुरुष को ही वह चाहती है। स्वर्णगुलिका भी ऐसे-वैसे को 'अपना' बनाना नही चाहती थी, वह चाहती थी ऐसे वीर को जो यह जानते हुए भी कि मैं उदायन की दासी हूँ, मुझे लेने का साहस करे। उसकी आँखो में निमन्त्रण था, बुलावा था और साथ ही प्रतीक्षा भी थी, उस साहसी की जो उसके निमन्त्रण को स्वीकार करे, उसका हाथ पकड़े, उसे ले चले और उसके अपूर्ण नारीत्व

को पूर्ण कर दे। पुरुष मे बल होता है और नारी में प्रतीक्षा। नारी की प्रतीक्षा ही पुरुष को जीत लेती है।

मालवपति चन्द्रप्रद्योत की राजधानी थी उज्जयिनी। चन्द्रप्रद्योत दुर्धर्ष योद्धा, विकट लडाकू और छलबल का सहोदर था। उसका उद्देश्य था सफल होना, दुश्मन को जीतना, अपनी इच्छाएँ पूर्ण करना। भले ही उसे धर्मठगाई करनी पड़े, चोरी करनी पड़े, छल-बल का सहारा लेना पडे और अपने कानो से अपनी निन्दा भी सुननी पड़े। वह ऐसा प्रचण्ड और विकट था कि लोग उसे चन्द्रप्रद्योत की जगह 'चण्डप्रद्योत' कहते थे। आस-पास के राज्यो मे उसका यही नाम प्रसिद्ध था।

चण्डप्रद्योत की एक दुर्बलता भी थी और वह थी, उसकी कामलोलुपता। जब भी वह काम के वशीभूत होता, एक राजा के गौरवपूर्ण पद से नीचे उतर कर छिछोरा मनुष्य बन जाता। चण्डप्रद्योत के कानो ने उदायन की दासी का अप्रतिम सौन्दर्य सुना तो उसे देखने के लिए रूप की प्यासी उसकी आँखें तडपने लगी और परिरम्भ सुख चाहने वाली भुजाओ ने उसे दुस्साहसी बना दिया। एक रात वह अपनी इच्छा पूर्ण करने चला। चला इसलिए कि स्वर्णगुलिका का सन्देश और निमन्त्रण उसे इन शब्दो मे मिला था—

"यदि समय आने पर वीतभय के साथ ईंट से ईंट बजाने का साहस हो तो मैं आपके साथ भागने के लिए तैयार हूँ। मुझे साथ ले चलने मे युद्ध की जरूरत नही पडेगी, क्योकि रात का अँधेरा हमारा रक्षक होगा। लेकिन जब अँधेरा छँट जाएगा तो यह रहस्य छिपा न रहेगा। तब तो ईंट से ईंट बजानी ही पडेगी।"

स्वर्णगुलिका का निमंत्रण पाकर चण्डप्रद्योत बाँसो उछल पडा। 'जो होगा सो देखा जाएगा', यह सोच वह अनलगिरि नामक अजेय गध हस्ती पर चढकर रात के अँधेरे और सन्नाटे मे वीतभय के देव मन्दिर पहुँचा और राजा उदायन के कुल की देवप्रतिमा तथा स्वर्णगुलिका दासी को चुराकर रातोरात भाग गया।

× × ×

शौर्य, बल, पराक्रम और वीरत्व होते हुए भी राजर्षि उदायन युद्ध विमुख रहने वाले शासक थे, क्योकि धर्म मे उनकी रुचि थी, श्रावक के बारहो व्रतो का पालन उन्हें इष्ट था। हाँ, जब कभी युद्ध की अनिवार्यता उन्हें मजबूर करती तो उन्हे युद्धक्षेत्र मे उतरना पडता। तब भी वे इतना ख्याल रखते कि शत्रुता को पराजित किया जाए शत्रु को नहीं, रक्तपात कम से कम बहे और शत्रु से द्वन्द्व युद्ध करके ही हार-जीत का फैसला कर लिया जाए।

प्रात काल का समय था। उदायन सम्राट का राजदरबार लगा था। राजसेवक ने एक सन्देश दिया, जिसे सुनकर उदायन जैसे धीर ललित सम्राट का खून भी खौल उठा। सेवक ने कहा—

"प्रजापालक ! मालवपति चण्डप्रद्योत स्वर्णगुलिका दासी और देवप्रतिमा को चुराकर ले गया ।"

उदायन ने तुरन्त निर्णय दिया—

"चण्डप्रद्योत कायर है । कायर पर मेरा हाथ नही उठता, पर चोरो को क्षमा करना भी उचित नही । चण्डप्रद्योत ने चोरी ही नही की, मुझे चुनौती भी दी है । अब तो ईंट का जवाब पत्थर से ही दिया जाएगा ।"

इतना कह उदायन ने महामत्री की ओर देखा । महामत्री को भी यह मान-हानि कब बर्दाश्त थी ? उन्होंने तुरन्त चतुरगिणी सेना को प्रस्थान का हुक्म दे दिया । उदायन ने दलबल सहित मालव की ओर प्रस्थान कर दिया ।

× × ×

अपने दस सामन्त राजाओ के साथ विशालवाहिनी को लिए हुए उदायन जेठ की चिलचिलाती धूप मे बढा चला जा रहा था । मरुप्रदेश में चारो ओर रेत और उस पर पडी सूर्य किरणो से बनी मृगमरीचिका—पानी की एक बूंद के भी दर्शन नही । सेना में बढने का उत्साह था, पर प्यास के मारे प्राण भी कण्ठ में अटके थे । तीन दिन इसी तरह पानी के लिए तरसते हुए बीत गये । करना या मरना के कठोर सकल्प ने सेना को मालवभूमि के निकट पहुँचाया । एक पहाडी पर उदायन ने पडाव डाला और अपनी स्वर्गीय पत्नी प्रभावती देवी का स्मरण किया । देवी की कृपा हुई और मरुभूमि पर पानी की वर्षा होने लगी । चिर तृषित मरुधरा ने भी पानी पिया और सैनिक भी जलस्नात हो गये । प्रभावती देवी ने अपने दैवी-बल से वहाँ एक सदानीरा पुष्करिणी का निर्माण किया । यही 'पुष्करिणी' आज अजमेर के निकट 'पुष्कर तीर्थ' के नाम से जानी जाती है । सबने पानी पिया, प्यास बुझाई । सैनिको की जल तृषा शान्त हुई, तो युद्धपिपासा भडक उठी और मालव की धरती को रौंदती हुई अवन्ती के रणक्षेत्र मे जा उठी । उदायन ने राजधानी उज्जयिनी के चारो ओर घेरा डाल दिया और दयावीर उदायन ने चण्ड के पास सन्देश भिजवाया—

"स्वर्णगुलिका दासी और देव प्रतिमा को लौटाकर अपने चौर्यकर्म का प्राय-श्चित्त कर लो या फिर द्वन्द्व युद्ध का निमत्रण स्वीकार करो । हार-जीत का फैसला हम दोनो के द्वन्द्व युद्ध से ही होगा । व्यर्थ का नरसहार करने से कोई लाभ नहीं । द्वन्द्व युद्ध मे जो वाहन तुम चाहो, चुन लो । वही मुझे भी मजूर है ।"

चोर बडी-से-बडी सजा भोग सकता है, पर चुराई हुई चीज लौटाना उसने नही सीखा । चण्ड ने चुराई हुई देव प्रतिमा और दासी को लौटाने से इन्कार कर दिया और रथयुद्ध के लिए तैयार हो गया । उदायन रथ पर सवार होकर चण्ड से द्वन्द्व युद्ध करने रणभूमि मे आया । यहाँ भी चण्ड ने एक चाल चली । वह रथ के बदले अनलगिरि हाथी पर चढकर आया ।

उसकी इस धूर्तता को देखकर उदायन ने उसकी भर्त्सना की—

"अरे छली ! छल ही तेरा बल है। रथ का धोखा देकर तू गजारूढ होकर आया है। कायर, पहली ही बार तूने प्रतिज्ञा भग की। तुझे अपने हाथी का बडा घमण्ड है। आज मैं तुझे बन्दी बनाकर ही मानूंगा।"

उदायन ने बाण वर्षा से अनलगिरि को विचलित कर दिया। उसके चारो पैर, सूंड और मस्तक को छलनी बना दिया। दोनो ओर की सेना द्वन्द्व युद्ध का कौतुक देख रही थी। उदायन ने विद्युत्गति से रथ को घुमाया और घायल हाथी पर से चण्ड को रथ मे खीचकर बन्दी बना लिया। उदायन ने सोचा, इसे ऐसा दण्ड मिलना चाहिए जिसे पूरा ससार इसके कामान्ध रूप की निन्दा करता रहे। अत उदायन ने उसके मस्तक पर 'दासी पति' शब्द अंकित करवा दिया।

चण्ड के बन्दी होने का समाचार मिलते ही स्वर्ण गुलिका दासी भाग गई और सबके अत्याग्रह पर उदायन ने देव प्रतिमा वही स्थापित करा दी। अब बन्दी चण्ड प्रद्योत को लेकर उदायन ने वीतभय की ओर प्रस्थान किया।

× × × ×

वीतभय की ओर प्रस्थान करते हुए उदायन ने मार्ग मे आठ दिन का पडाव डाला। जिस स्थान पर पडाव डाला वह 'दशपुर' नाम से प्रसिद्ध था जो आज 'मन्दसौर' के नाम से जाना जाता है। भादो का मास और पर्युषण पर्व। श्रावक व्रती, जैन धर्मानुरागी अपने सामन्त राजाओ के साथ पर्युषण पर्व मनाने रुक गया। धर्मव्रती के लिए नगर-वन सब समान ही होते हैं।

जैन धर्म 'कृति पूजक' धर्म है और पर्युषण पर्व है, साल भर के कृत्यो का लेखा-जोखा करने वाला पर्व—आत्म-निरीक्षण का पर्व। पर्युषण का अर्थ है—आत्मा के 'समीप रहना'।

मनुष्य द्वेप-घृणा, माया-मोह, ईर्ष्या, शत्रुता-वैर आदि सबके समीप नित्य ही रहता है और प्रेम, दया, क्षमा आदि से दूर रहना उसका स्वभाव सा बनता जा रहा है। वास्तव मे द्वेप, घृणा विभाव है, प्रेम, दया, क्षमा स्वभाव। स्वभाव मे रमण करना तथा इन सब गुणो के समीप रहना ही पर्युषण का महत्व है। इसीलिए हमारे ऋषियो ने यह पर्व निश्चित किया है कि इस पर्व पर मनुष्य अपनी साधारण निम्न भूमिका से ऊँचा उठकर सोचने का प्रयत्न करे और जीवन की अपवित्रता से निकलकर पवित्रता की ओर चले। पाप-पुण्य का लेखा-जोखा, परनिन्दा कितनी की, दूसरों को कितना क्षमा किया, लोभ-मोह मे कितना फँसा, कितना छोडा—इस प्रकार आत्म-निरीक्षण ही पर्युषण पर्व के आठ दिनो की सच्ची आराधना है। जिस-जिस के साथ बुरा व्यवहार किया है, उसे याद कर सच्चे मन से पश्चात्ताप करना और उसे खमाना ही इस पर्व की सार्थकता है।

पर्युषण पर्व के सात दिन बीते। पर्व का आठवा और अन्तिम दिन—'सवत्सरी पर्व' था। उदायन ने रसोइये से कहा—

"आज 'सवत्सरी' पर्व है, मैं तो उपवास करूँगा। जो भी सैनिक, सामन्त, सेनापति स्वेच्छा से उपवास करना चाहें, वे करें। जो उपवास न करें, उनके लिए भोजन बनाना। और हाँ, चण्डप्रद्योत से पूछना जो वे खाना चाहें, उनके लिए बना देना। उनसे कहना आज मेरा उपवास है।"

रसोइये ने चण्ड से पछा—

"आज आप क्या भोजन करेंगे ?"

चण्ड शकित हुआ। आज से पहले कभी उससे पूछा नही गया। जो उदायन के लिए बनता था, वही मेरे लिए। आज ही क्यो पूछा जा रहा है। शकित चण्ड ने रसोइए से पूछा–

"आज ही मेरी इच्छा क्यो पूछी जा रही है ?"

रसोइये ने बताया—

"क्योकि महाराज उदायन सवत्सरी पर्व का उपवास करेंगे। वे भोजन नहीं करेंगे, इसलिए जो आप खाना चाहें बता दें।"

चण्ड की शका पक्की हो गई। सोचा—'अवश्य ही मुझे विष देने की यह चाल है। मैं भी चाल को चाल से काटना जानता हूँ।' यह सोच चण्ड ने कहा—

"महाराज से कहना, मेरे माता-पिता भी जैनधर्मी थे। अत आज मैं भी सवत्सरी का उपवास रखूँगा।"

जब उदायन ने सुना कि चण्डप्रद्योत भी आज उपवास करेंगे तो उनका सह-धर्मी प्रेम जागृत हो गया और वे आत्म-निरीक्षण करते-करते निश्चय कर बैठे—'मुझे चण्ड से क्षमायाचना करनी चाहिए। अपने शत्रुओ को मित्र बना लेना, उन्हें क्षमा कर देना ही तो इस पर्व की सार्थकता है। यह पर्व अखिल विश्व के प्राणिमात्र से क्षमायाचना करने का है, तो क्या मैं अपने निकट के शत्रु से भी क्षमायाचना न करूँ ? सायकालीन प्रतिक्रमण करके उदायन वन्दी चण्ड के समीप पहुँचे और वोले—

"हे सहधर्मी बन्धु ! मैं तुम्हें खमाता हूँ।"

चण्ड ने मुस्कराकर कहा—

"यह क्षमा का नाटक क्यो ? पर्युषण पर्व खमाने के लिए होता है, खमाने का नाटक करने के लिए नही।"

उदायन ने प्रश्न सूचक नेत्रो से चण्ड को देखा। चण्ड ने उदायन की प्रश्नात्मकी दृष्टि पढकर बताया—

"राजन् ! मुझे पशु की तरह लोहें के पिंजडे मे बन्द रखकर आप मुझसे क्षमा माँग रहे हैं, यही तो इस क्षमा की विडम्बना है। यदि वास्तव मे तुम्हारे हृदय मे मेरे लिए क्षमा भाव है तो मुझे मुक्त करो।"

उदायन ने पुन आत्म-निरीक्षण किया—

'चण्ड ठीक ही तो कहता है। इसके अपराध से क्षुब्ध होकर ही तो मैंने इसे वन्दी वनाया था। यदि इसे मुक्त नही किया तो इसके अपराध को क्षमा भी नहीं किया। माना कि चण्ड दुर्दान्त शत्रु है। ऐसे भयकर शत्रु को छोडना एक राजा की महान् भूल है, पर उदायन के क्षमावीर की पराजय भी तो नही हो सकती।'

इस प्रकार थोडी देर तक धर्म और राजनीति मे द्वन्द्व चला। राजा उदायन, युद्ध वीर उदायन हार गया और श्रावक उदायन, राजर्षि उदायन तथा क्षमावीर धर्मवीर उदायन जीत गया। सम्मान के साथ चण्ड को मुक्त कर दिया गया और सहधर्मी तथा मित्र चण्डप्रद्योत को क्षमावीर उदायन ने गले लगाकर पर्युपण पर्व की सार्थकता सिद्ध करते हुए कहा—

"आज से तुम मेरे सहधर्मी मित्र हो।"

जब उदायन ने ऊपर देखा तो चण्ड के कपाल पर 'दासीपति' लिखा शब्द उनके मन मे शूल-सा चुभ गया। यह आवेश की भूल थी। उदायन ने चण्ड के भाल पर स्वर्णपट्ट वांधा और 'दासीपति' को ढंक दिया और अपने पट्ट वन्ध मित्र अवन्तीपति चण्डप्रद्योत को ससम्मान विदा कर दिया।

राजर्षि की धार्मिक सार्थकता आज भी हमे प्रेरणा दे रही है।



दुर्दान्त शत्रु को जीतनेवाला क्षमावीर कुलपुत्र

धीरे-धीरे निशा अपने काले आँचल को समेटती जा रही थी। प्रभात के तारे एक-एक करके छिपते जा रहे थे। कुछ जागरूक उठ चुके थे और बहुत-से प्रमादी तन्द्रा मे अलसाये आँख मूँदे पडे थे, मानो आँख मूँदकर ही वे उजाले को अँधेरा बनाने मे पारगत हो। ऐसी निशान्त वेला मे एक खून का प्यासा अपने शत्रु को यम लोक पहुँचाकर जिधर से आया उधर ही चला गया। हत्यारा गायब था, पर उसका दुष्कृत्य कुलपुत्र के भाई के शव के रूप मे जीता-जागता पडा था। कुलपुत्र ने भाई को देखा तो उसके मुँह से चीख निकल गई। माँ को पुकारा—

"माँ ऽऽ! मेरा भैया मुझे छोडकर चला गया। मेरी एक भुजा कट गई। माँ अब मैं अकेला रह गया। अरे कौन हत्यारा मेरे अग्रज को मारकर चला गया!"

क्षत्राणी ने बिलखते पुत्र को देखा तो उसके उमडते हुए आँसू जैसे जम गए। क्षत्राणी खून से लथपथ अपने बडे बेटे को देख रही थी और बिलखते छोटे बेटे के आसू भी पी लेना चाहती थी। क्षणभर के लिए उसका कोमल नारीत्व और ममता भरा मातृत्व न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। कठोर क्षत्राणी का दर्प बेटे को ललकारते हुए बोला—

"अरे, तू औरतो की तरह रोता क्यो है? क्या तेरी तलवार की धार कुण्ठित हो गई? उठ, और भाई का बदला ले।। मैं गीदड की माँ नही हूँ, जो अपनी आँखो के सामने अपने बेटे को बाघ का कलेवा होते देखूँ। सिंहनी के बच्चे को एक गीदड खा जाए और सिंह शावक देखता रहे? तेरी नसो मे मेरा—एक सिंहनी क्षत्राणी का दूध रक्त बनकर प्रवाहित हो रहा है। भाई के हत्यारे को मौत के घाट उतार दे।"

कुलपुत्र के आँसू सूख गए। वह उठा, अपना खड्ग सँभाला और बोला—

"माँ ··!

माँ ने बीच मे रोक कर कहा—

"क्षत्रिय कभी भी अपने शत्रु को ऐसा मौका नही देते कि वह वार करे। सच्चा शूर-वीर शत्रु को वार करने से पहले ही समाप्त कर देता है। लेकिन जो शत्रु के आक्रमण करने के बावजूद भी उसे शिक्षा न दे सके, वह क्षत्रिय के नाम पर कलक है, कायर है।"

कुलपुत्र चीख उठा—

"बस माँ बस, मैं तेरे दूध की सौगन्ध खाता हूँ कि अब मैं बन्धुघातक को पकडकर ही लौटूंगा। तेरे दूध की श्वेतिमा को कलकित नही करूँगा। जब तक इस खड्ग से तेरे सामने बन्धुघातक को शिक्षा न दे लूंगा, तब तक नीद मेरे लिए नीद नही, भोजन-भोजन नही। माँ! अगर मैं ऐसा न कर सकूँ तो क्षत्रिय नही, और तेरा बेटा भी नही।"

क्षत्राणी को रोमाच हो आया। उसने पुत्र के सिर पर हाथ रखा—

"बेटा! तेरी सौगन्ध पूरी हो।"

कुलपुत्र ने माँ के चरण छुए और बन्धुघातक की खोज मे चल दिया।

× × ×

वन-पर्वत, गाँव-नगर, घाटी-खाई, कुएं-बावडी, मरघट, खेत-खलिहान, राजमार्ग-वीथी, गली-कूँचे, खण्डहर-घर, झोपडी, छत-चबूतरे, गुरुकुल-उपाश्रय, मन्दिर-चैत्य—धरती का चप्पा-चप्पा, कोना-कोना कुलपुत्र ने छान मारा, पर बन्धु-घातक हत्यारा नही मिला। इस तरह ढूढते-खोजते लगभग बारह वर्ष बीत गये। पर आशा और उत्साह ने कुलपुत्र का साथ नही छोडा। वैज्ञानिक कहते हैं प्रारम्भ मे धरती आग का गोला थी। ज्यो-ज्यो समय बीता धरती ठडी होती गई। पर, बारह वर्ष बीतने पर भी कुलपुत्र की क्रोधाग्नि ठडी नही हुई। आज भी वह यही सोचता, 'जब बन्धुघातक मिलेगा, उसका खून पी जाऊँगा, उसे जिन्दा नही छोडूंगा।' कुलपुत्र क्रोधावेश मे ऐसा पागल हो गया कि रात के अंधेरे मे सूखी लकडियो के ढेर पर ऐसे झपटता, जैसे बाज कबूतर पर झपटता है, पर उसे निराशा ही हाथ लगती। दूर बैठा सूखे ठूँठ को देखकर वह सोचता—'यह कोई पुरुष बैठा हो, शायद यही मेरा शत्रु हो, चलूँ उसकी मुश्कें बाँध लूँ।' क्रोध ने उसे उन्मत्त और अन्धा बना दिया था। रात के अंधेरे मे मिट्टी के दूह, लकडी के ठूँट, सूखे पत्तो के ढेर, छोटी-छोटी झाडियां—सब उसे बन्धु-घातक के रूप मे बैठे दिखाई देते। उसकी आंखो पर प्रतिशोध, वैर और क्रोध का सम्मिलित चश्मा चढा था, उसे अब सम्पूर्ण जगत, प्रकृति सुषमा—बन्धुघातक ही दिखाई देते।

बारह वर्ष पूरे हुए। दैव की गति कितनी विचित्र है, जिसे चप्पे-चप्पे मे छान-मारा, वह नही मिला और मिला तो अचानक मिल गया। मानो उसकी मौत उसे कुलपुत्र के पास खीच लाई हो। कुलपुत्र ने बन्धुघातक की मुश्कें बाँध लीं। यो दोनो मे शक्ति बराबर थी, पर क्रोध मे व्यक्ति की शक्ति नौ गुनी बढ जाती है और बढते-बढते एक दिन इतनी क्षीण भी हो जाती है कि व्यक्ति केवल क्रोध मे काँपता रहता है, कुछ कर नही पाता। लेकिन कुलपुत्र की शक्ति क्रोध के कारण बढी हुई थी, सो उस अकेले ने ही बन्धु-घातक की मुश्कें बाँधली और घर की ओर ले चला।

वन्धुघातक को पाकर कुलपुत्र का क्रोध दैत्य भी आज प्रसन्न हो रहा था। उसने आज माँ के दूध को गौरवान्वित किया था और अपने वीरत्व को—क्षत्रियत्व को सफलता का किरीट पहनाया था।

× × ×

वन्धुघातक को आँगन मे पटकते हुए कुलपुत्र ने पुकार कर कहा—

"माँ ! यह ले खड्ग, और अपने हाथो मे अपने पुत्रघातक को मारकर अपने वेटे के खून का वदला ले।"

म्यान से चमचमाता खड्ग कुलपुत्र ने निकालकर माँ के हाथ मे दे दिया। माँ ने पुत्रघातक को देखा। पुत्रघातक ने कुलपुत्र के पैर पकड लिये। कातर स्वर मे वोला—

"मुझे मत मारो ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। जीवनभर तुम्हारा दास रहूँगा। मेरे विना मेरी बूढी माँ रोती-रोती अन्धी हो जाएगी। मेरे छोटे-छोटे वच्चे अनाथ होकर विलखेंगे। मेरी पत्नी विधवा होकर दर-दर की ठोकरें खायेगी। मुझे अपनी गाय समझकर छोड दो।"

कुलपुत्र ने ठहाका लगाया—

"अव मौत के सामने तुझे माँ की याद आई। मेरे भाई को मारते समय तेरी ये वातें कहाँ गई थी ? तेरी माँ भी मेरी माँ की तरह पुत्रवियोग मे जीवन भर रोयेगी ।"

वीरमाता क्षत्राणी का मातृत्व और नारीत्व जाग्रत हो गया। उसने विचार किया—

'शत्रु को तलवार से मारना तो निरी कायरता है। यदि उसे मारना ही है तो क्षमा से मारो। इसके मारने से क्या मेरा वेटा वापस आ जाएगा ? मेरी ही तरह इसकी बूढी माँ इसके विना तडपेगी। इसकी स्त्री और वच्चे विलखेंगे। एक के वदले मैं इतनो को तडपाऊँ, क्या यह नारी का—मानव का धर्म है ? नहीं-नही। मैं इसे नही मरने दूँगी। सच्चा वीरत्व मारने मे नही, अभय करने मे है।' सोचते-सोचते क्षत्राणी ने खड्ग कुलपुत्र के हाथ मे देते हुए कहा—

"पुत्र ! खड्ग को म्यान मे रख लो। अव इसे मारने की कोई जरूरत नहीं। इसके वन्धन खोल दो।"

"माँ ऽऽ ! यह तुम क्या कह रही हो ?" भौंचक कुलपुत्र ने पूछा—"माँ ! जिस शत्रु के लिए मैंने वारह वर्ष भूखे-प्यासे जगल की खाक छानी, उसे तुम यो जीवित छोड रही हो ? माँ ! यह कभी नही हो सकता। आखिर मैं क्षत्रिय हूँ, कायर नही। मुझे कायर मत वनाओ। माँ ! तुम्ही ने तो कहा था कि शत्रु को पकडकर उसे शिक्षा न देने वाला, वदला न लेने वाला कायर होता है।"

क्षत्राणी ने कहा—

"वेटा ! क्षत्रिय का, वीर का धर्म ही मैं तुझे बता रही हूँ। शरणागत की रक्षा करना, शरण मे आये को अभयदान देना सच्चे क्षत्रिय का धर्म है।

"वेटा ! शत्रु को जीतो। लेकिन वाहरी शत्रु को नही, अन्दर के दुर्दान्त शत्रु क्रोध को जीतना ही शत्रु को जीतना है। यह क्रोध कितने अनर्थ करता है। इसी क्रोध कषाय की अग्नि मे सारा ससार जल रहा है। वड़े-वड़े युद्ध, विनाश, नर-सहार इसी क्रोधरिपु के कारण होते हैं। इसी क्रोध ने तुम्हारे भाई का विनाश कराया। इसी क्रोधरिपु के वशीभूत यदि तुमने इसे मारा तो इसके पुत्र तुम्हे भी जगलो की खाक छानकर खोजेंगे। फिर यह विनाश-परम्परा इसी तरह चलती रहेगी। जन्म-जन्म तक ! सच्ची वीरता क्षमा मे है। इसे क्षमा कर दो—यह खुद-ब-खुद मर जाएगा।"

कुलपुत्र के हाथ को जैसे काठ मार गया। उसने तलवार म्यान मे रखली और सोचने लगा—'माँ ठीक ही तो कहती है। खून के दाग कभी खून से धुले हैं ? क्रोध से क्रोध की वेल वढती ही जाएगी।'

कुलपुत्र और उसका शत्रु अव वन्धु की तरह उसके गले मिला। कुलपुत्र को लगा, मानो मेरा स्वर्गीय भाई ही मुझ से मिल रहा है। इस मिलन के अनन्तर वह हँसी-खुशी अपने घर चला गया। इस प्रकार कुलपुत्र ने अपने हृदय कोटर मे छिपे दुर्दान्त क्रोधरिपु को जीत लिया। क्षमा के जयनाद से दिशाएँ गूँज उठी।



सर्वश्रेष्ठ तप : क्षमा

उपवास, ऊणोदरी आदि बाह्य तप से सिर्फ शरीर सूखता है, जब तक कषायो की शाति नही होती, क्रोध की ज्वाला धधकती रहती है सब तप व्यर्थ है। अगर क्रोध शात हो गया है, कषायो की आग बुझ गई है, क्षमा की शीतलधारा से अन्त करण शीतलीभूत हो गया है तो फिर अन्य तप करें या न करें। क्षमा की उत्तम आराधना ही सर्वश्रेष्ठ तप है। मुनि नागदत्त केवली के चरित्र से यह बात उजागर हो जाती है।

पूर्व जन्म के सस्कार थे। इसलिए राजकुमार नागदत्त ने बाल्य-काल मे ही दीक्षा ले ली। पूर्व जन्म मे वह तिर्यंच योनि मे था, इसलिए उसे जबान (स्वाद) पर तो काबू था, पर भूख पर काबू नही था। मुनियो के सघ मे वह सबको उपवास करते देखता, पर स्वय एक दिन का भी उपवास नही कर पाता। जैसे ही भिक्षा लाता, गुरु को आहार दिखाता और एकान्त मे ले जाकर खाने बैठ जाता। सघ के साधु उसे पेट्ट और भोजन भट्ट कहकर उसका मजाक उड़ाया करते।

क्षुल्लक मुनि नागदत्त भाव साधक था, शरीर-साधक नही। उसने क्रोध को जीतने का व्रत लिया था। उसकी साधना क्रोध को जीतने मे थी, भूख को जीतने मे नही। साधुओ के उपहास और व्यग्यवचन सुनकर क्षुल्लक मुनि नागदत्त अपनी आलोचना करते—'मुनिगण ठीक ही तो कहते हैं। मुनिचर्या अपनाकर भी मैं भूखा नही रह पाता। ये सब सचमुच साधक हैं, जो महीनो-महीनो का उपवास करते है।

मुनि नागदत्त के सघ मे चार उग्र तपस्वी श्रमण भी थे। एक चार मास की तपस्या करता था, दूसरा तीन मास, तीसरा दो मास और चौथा एक मास की। सर्वत्र उनकी तपस्या की बडी धाक थी। घोर तपस्वी के नाम से ससार उन्हें पूजता था। मुनि नागदत्त भी उन उग्र तपस्वियो की ओर देखकर स्वय की क्षुधा वेदनीय को धिक्कारता रहता।

एक बार रात्रि के समय एक देवी मुनियों की वन्दना करने आई। श्रमण सघ के चारो मुनि उठे। अन्त मे क्षुल्लक मुनि उठे, देवी ने उन चारो को छोड क्षुल्लक मुनि नागदत्त की वन्दना की। देवी के इस अयाचित व्यवहार से चारो मुनि क्षुब्ध-क्रुद्ध हुए।

तपस्वियो ने देवी से कहा—देवानुप्रिये! "आपका यह व्यवहार अनुचित है। घोर तपस्वी साधको को छोड आपने एक पेट्ट मुनि की वन्दना की है। यह निरा

जिह्वालोलुप और सतत्‌भोजी है। नियम-धर्म से कोसो दूर रहता है। लगता है, आपने भ्रमवश ही ऐसा किया है।"

देवी ने कहा—

भते ! आप गलत समझे है। मैं भ्रमित नही हुई। मैंने वन्दनीय की ही वन्दना की है। मुनि क्षुल्लक भाव तपस्वी हैं। क्षमा के आराधक हैं। उन्होंने क्रोध कषाय को जीत लिया है। उन्हे इसी जन्म मे—बहुत जल्दी केवलज्ञान मिलेगा। आप लोग केवल काया को कष्ट देना ही तप मानते है। आपका कषाय उग्र है, वे मद कषायी हैं।

इतना कह देवी अन्तर्द्धान हो गई। देवी के कथन से चातुर्मासिक चारो मुनियो के मन मे क्षुल्लक मुनि के प्रति ईर्ष्याग्नि भडक उठी। वे अब क्षुल्लक मुनि को और अधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे।

एक दिन पर्व का दिन था। सभी मुनियो का व्रत था। क्षुल्लक मुनि नागदत्त गोचरी के लिए गए और चारो मुनियो को मुनि आचार के नाते आहार दिखाकर आहार की आज्ञा ली। उनके इस आचरण पर चारो क्रुद्ध हो उठे और बोले—

"अरे पेटू ! क्या तू जानता नही कि आज हमारे उपवास का दिन है ? फिर क्यो तू हमसे भोजन के लिए पूछ रहा है ?"

यह कह चारो ने क्षुल्लक मुनि के आहार-पात्र मे थूक दिया। क्षुल्लक मुनि इतने पर भी शान्त बने रहे। उन्होंने हाथ जोड कर चारो से क्षमा याचना की—

"मुनिवर ! मैं आपके थूकने के लिए पात्र (थूकदान) नही ला सका। मेरा अपराध क्षमा करें।"

चारो मुनि क्षुल्लक मुनि के धैर्य और क्षमा भाव को देख दग रह गए। चारो ने अपनी आलोचना की—

"देवी ठीक ही कहती थी। हम तो शरीर को तपाने वाले ही हैं। सच्चा तपस्वी—मन को तपाने वाला तो यह क्षुल्लक ही है।"

मुनियो की ईर्ष्या शान्त हो गई। उन्हें सत्य खडा दीखने लगा। प्रेम विभोर होकर उन्होंने क्षुल्लक को आलिंगनबद्ध किया और अपनी भूल स्वीकार की।

तभी देवी पुन प्रकट हुई। उसने तपस्वियो से पूछा—मैंने वन्दनीय की ही वन्दना की थी न ?"

मुनियो ने कहा—

"देवी ! हम ही भ्रम मे थे। जिसने क्रोध को जीत लिया, वही वन्दनीय है।"

× × ×

एक दिन देव दुन्दुभी बज उठी। क्षुल्लक मुनि नागदत्त को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। केवली मुनि नागदत्त को अपना पूर्व भव साफ-साफ दीखने लगा। अपने दो

भवो का हाल उन्होंने साधुओ को सुनाया क्योकि उनके पिछले दोनो जन्म-एक मनुष्य का और दूसरा तिर्यंच का—दोनो ही वड़े प्रेरक थे।

आप बीती बात

एक गुरु, एक शिष्य। दोनो साधक। एक वार गुरु शिष्य के साथ कही जा रहे थे। रास्ते मे उनके पैर से एक मेढक दब कर मर गया। शिष्य ने गुरु को सावधान किया—

"गुरुवर! अनर्थ हो गया। वेचारा मेढक आपके पैरो से कुचल कर मर गया।"

गुरु ने शिष्य की आंखो पर परदा डालते हुए कहा—

"क्या मुझे इतना भी नही दीखता? अरे मूर्ख वह मेढक तो मरा हुआ था।"

शिष्य ने फिर कुछ नही कहा। मौन हो गया।

सायकाल का समय। दिन भर के कार्यों का प्रतिक्रमण करना था। शिष्य ने गुरु को याद दिलाया—

"गुरुवर! मेढक की विराधना की आलोचना करना न भूलें।"

गुरु ने मानो सुना ही नही। शिष्य ने फिर दुहराया। गुरु फिर भी चुप रहे। जब शिष्य ने तीसरी वार कहा तो गुरु विगड उठे—

"तू अपना काम कर। मुझे शिक्षा मत दे। तू शिष्य है या गुरु? ठहर अभी तुझे शिक्षा देता हूं।"

इतना कह गुरु रजोहरण ले शिष्य के पीछे दौड़े। शिष्य भी सिर पर पैर रख कर भागा। रात का अंधेरा फैल चुका था। गुरु एक पत्थर के खम्भे से टकरा गए और चल बसे। मरकर वे ज्योतिष देवो मे उत्पन्न हुए। कालान्तर में देवायुष्य पूर्ण कर देवलोक से च्युत हुए और दृष्टिविष सर्पयोनि मे उत्पन्न हुए और नगर के वाहर एक जगल मे रहने लगे।

जिस नगर में गुरु सर्पयोनि मे उत्पन्न हुए उस नगर के राजा के एक पुत्र था। एक वार राजपुत्र को किसी सर्प ने काट लिया। वड़े-वडे चिकित्सक और मत्रविद् गारुडिक वुलाये गये। वहुत सारे प्रयास करने पर भी राजकुमार को कोई भी निर्विष नही कर सका। तव अन्त मे गारुडिको ने एक मण्डल वनाया और आस-पास के सभी सर्पों का आह्वान किया। वहुत-से सर्प मण्डल मे एकत्र हुए। गारुडिकों ने कहा—

"जिस सर्प ने राजकुमार को काटा है, वही मण्डल मे रहे, वाकी सव चले जाएं। सभी सर्प चले गए, काटने वाला सर्प मण्डल मे रह गया। गारुडिको ने सर्प को आदेश दिया—

"तुमने राजकुमार को डसा है। या तो अपना विष वापस खीचो या अग्नि-कुण्ड में कूदो।"

यह सर्प अगवन कुल का सर्प था। इस जाति के सर्प वमित विष को फिर नही पीते। अत वह सर्प भी अपनी कुल परम्परा के नाते विवश था, सो अग्निकुण्ड मे कूद पडा और जलकर राख हो गया और सर्प के साथ वह राजकुमार भी मृत्यु को प्राप्त हुआ।

राजा का इकलौता बेटा चल बसा। रनिवास शोक-सागर मे डूब गया। नगर-भर मे मातम छा गया। राजा शोक और क्रोध के दुहरे आवेग मे विक्षिप्त-सा हो गया। अब वह शोक को तो भूल गया और सर्प मात्र का शत्रु बन गया। राजा ने घोषणा कराई—

"जो भी मुझे साँप का कटा हुआ सिर लाकर दिखायेगा, मैं उसे एक स्वर्ण मुद्रा दूंगा।"

धन का लोभ सब कुछ करा देता है। जो लोग चुहिया से भी डरते थे, वे अब काल की रस्सी से खेलने लगे और राजा को सर्पशीष दिखा-दिखाकर अपनी गरीबी दूर करने लगे।

गुरु का जीव दृष्टिविष सर्प के रूप मे दिनभर अपने बिल मे ही छिपा रहता। प्राण भय से वह रात्रि मे ही निकलता। सर्प खोजियो ने एक दिन उसका बिल भी देख लिया और उन्होने बिल पर एक ऐसी जडी (ओषधि) रख दी कि सर्प बाहर आने को विवश हो गया। दृष्टिविष सर्प विचारलीन हुआ। उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ, तो अपना पूर्व जन्म साक्षात् दिखाई देने लगा, सोचा—'मैंने क्रोध का विपाक देख लिया। अब क्षमा-दया का सहारा ही मेरा कल्याण करेगा। यदि मैं सीधे बाहर निकलूंगा तो मेरी दृष्टि से सभी लोग मर जाएँगे—आखिर दृष्टि-विष कुल का हूँ न, अत उल्टा निकलूँ तो किसी की प्राण हानि न होगी।' यह सोच वह सर्प पूछ की ओर से उल्टा बाहर निकला। बाहर खड़े लोगो ने उसकी पूँछ काट ली और इसी तरह क्रम-क्रम से उसके अनेक टुकड़े कर दिये। अन्त मे उसका सिर ही शेष रह गया, ज्योंही लोगो ने उसका सिर काट कर उठाना चाहा कि एक नाग देवी उसके सिर को उठा ले गई। स्वर्ण मुद्रा लोभी देखते रह गये।

राजा सुख की नींद सो रहा था। रात्रि का अन्तिम प्रहर था। एक नागदेव ने राजा से स्वप्न में कहा—

"राजन्! सर्पों का मरवाना छोड दो। अब तेरे घर एक पुत्र उत्पन्न होगा, यह मेरा वरदान है। तू अपने उस पुत्र का नाम नागदत्त रखना।"

राजा उठा। रानी को स्वप्न सुनाया। कालान्तर मे रानी गर्भवती हुई। सवा नौ महीने बाद दृष्टिविष सर्प का जीव राजा के घर पुत्र रूप मे जन्मा।

पुत्र का जन्मोत्सव बडी धूम-धाम से मनाया गया। राजा ने उसका नाम नागदत्त रखा। राजकुमार नागदत्त चूँकि पूर्व भव मे तिर्यंच योनि मे था, इसलिए उसे भूख बहुत लगती। रात मे, दिन मे कभी भी वह बिना खाये नही रह सकता था।

भावो की विशुद्धता के कारण नागदत्त को जातिस्मृति हुई, क्रोध की उग्रता के कारण उसने जो दु ख एव यातनाएँ सही और सयम साधना को बर्बाद किया वह चित्र उसकी आँखो के सामने साकार हो गया। उसकी अन्तर की क्रोधाग्नि उपशात हो गई और वह गुरु के पास दीक्षित हो साधना करने लगा।"

केवली नागदत्त ने अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—क्रोध के कारण मैंने श्रमण पर्याय की विराधना कर नागयोनि मे जन्म लिया, क्रोध की उपशाति हुई तो नागयोनि से पुन मनुष्य भव प्राप्त हुआ। क्रोध के दुष्परिणाम का अनुभव करके ही मैंने क्षमा की आराधना की, क्षमा की सतत आराधना से ही मेरे ये घनघाती नष्ट हुए। वास्तव मे ही सब तपो मे 'क्षमा तप' सर्वश्रेष्ठ है।



क्रोध को कैसे जीतें ?

क्रोध क्रोध से कभी शात नही होता वल्कि अधिक ही भडकता है। क्रोध अग्नि को शात करने के लिए अक्रोध-क्षमा की जलधारा ही समर्थ है। वासुदेव श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य को उद्घाटित किया है—

एक वार श्रीकृष्ण चन्द्र वलदेव, सत्यक और दारुक को लेकर वन-विहार को गए। वनक्रीडा और वनभोज मे चारो इतने वेसुध हो गये कि साध्य वेला का भी ध्यान न रहा। वनप्रान्त से निकलने से पहले ही सूर्य डूव गया। चारो ने तय किया कि अब तो रात इसी जंगल मे वितानी पडेगी। सवेरे अरुणोदय होते ही घर चल देंगे। ऐसा निश्चय कर चारो एक वटवृक्ष के नीचे ठहर गये।

चारो थके थे। क्रीडोत्तर थकान का अनुभव करते हुए एक ने सुझाव दिया—

"खेलते-दौडते इतने थक गये हैं कि नींद गहरी आयेगी। इस विकट वन मे हिंसक जीवो का भी भय है। अत वारी-वारी से सव पहरा दें, यही उचित है।"

× × ×

पहला प्रहर दारुक का था। कृष्ण, वलदेव और सत्यक गहरी नींद मे वेसुध सो रहे थे। दारुक जागकर तीनो की रखवाली कर रहा था। कुछ देर वीतते-वीतते एक पिशाच आया और दारुक से वोला—

"वहुत दिनो से भूखा हूँ। आज तुम चारो को खाकर भूख मिटाऊँगा।"

दारुक ने भी चुनौती दी—

"तू खायेगा तो तभी, जव मैं तुझे जीवित छोडूंगा। मैं अभी तुझे मौत का कलेवा वनाता हूं।"

दोनो भिड गए। पिशाच भी दुर्धर्ष योद्धा था और दारुक भी विकट पराक्रमी। कभी पिशाच दारुक को पटकता, कभी दारुक पिशाच को। अन्ततः दारुक का क्रोधावेग वढने लगा। ज्यो-ज्यो दारुक का क्रोध बढता गया, त्यो-त्यो पिशाच का बल भी वढता गया। दारुक के क्रोध ने पिशाच के वल को तो वढाया, पर स्वय थककर गिर पडा—क्षत-विक्षत और घायल। पिशाच ने विजय की हुंकार भरी। दोनो के जूझने मे तीन घटे अथवा एक प्रहर पूरा हो गया, अत दूसरी वारी का पहरेदार सत्यक जाग चुका था, इसलिए पिशाच सोते हुओ का कुछ न विगाड सका।

पिशाच ने सत्यक से भी उसी प्रकार कहा—

"आज मैं तुम चारो को खाऊंगा, बहुत दिनो का भूखा हूं।"

सत्यक ने ललकारा—

"पहले एक से तो निपट ले, तब डीग हांकना।"

पिशाच ने घायल पड़े दारुक की ओर इशारा करते हुए कहा—

"यह देख, एक से तो निपट चुका हूं, अब दूसरे से निपटूंगा और तेरी हालत भी ऐसी ही हो जायेगी।"

अपने साथी दारुक को घायल और मूर्च्छित देख सत्यक का क्रोधरूपी पिशाच जाग्रत हो गया। पिशाच ने पिशाच का साथ दिया। ज्यो-ज्यो सत्यक का क्रोध-पिशाच उग्र से उग्रतर होता गया, त्यो-त्यो सत्यक का प्रतिद्वन्द्वी पिशाच शक्तिशाली होता गया और बलवान ने दुर्बल को जीत लिया। सत्यक की दशा भी दारुक-जैसी हो गई।

तीसरे पहरेदार बलदेव की भी यही दशा हुई। शत्रु को परास्त करने के लिए बलदेव क्रोधातुर होकर जूझे और तीन घटे तक जूझने के बाद परास्त होकर गिर गए।

पिशाच बडा प्रसन्न था। सोच रहा था—'तीन तो मरणासन्न मृतप्राय हो ही गए। अब चौथे की बारी है। इससे भी निपट लूं, तब चारो से पेट भरूंगा।'

कृष्ण भी यथासमय उठे। सामने खड़े पिशाच और घायल साथियो को देखकर सब कुछ समझ गए। 'इस पिशाच को मारना तो बहुत जरूरी है', यह सोच उन्होंने एक हाथ मे प्रशसा का अस्त्र लिया और दूसरे मे शान्ति का शस्त्र। कृष्ण को विश्वास था कि दोनो अस्त्र-शस्त्र अमोघ हैं, शत्रु पराजित होगा।

पिशाच ने कृष्ण को ललकारा। पर, वे शान्ति से खड़े-खडे मुस्कराते रहे। कृष्ण को शान्त देख पिशाच और भी क्रुद्ध हुआ, कृष्ण फिर भी यथावत् खडे रहे। उन्होने पहला वार किया—

"वाह रे वीर! तू तो सचमुच बडा भारी सुभट है। तेरी शक्ति का क्या ठिकाना! तुझे कौन हरा सकता है? वाह, तू तो कमाल का योद्धा है।'

प्रशसा और शाति के अमोघ अस्त्र-शस्त्रो से पिशाच का बल क्षीण हो गया। उसका बल थक गया और स्वय ही मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पडा।

फिर उन्होने अपने साथियो की शुश्रूषा की और उन्हें होश मे लाये। तीनो की मूर्च्छा दूर हुई तो चकराते हुए बोले—

"क्या पिशाच ने तुम से कुछ नही कहा? भाग गया क्या?"

"भागता क्यो?" कृष्ण बोले—"वह देखो, मूर्च्छित हुआ पडा है।"

"तुमने उसे पराजित कर दिया? था तो बडा बलवान।" सत्यक ने पूछा।

कृष्ण बोले—

"वह स्वय ही मूर्च्छित हुआ है। मैंने तो हाथ भी नही लगाया।"

दारुक चकराया। बोला—

"ऐसा क्योकर हुआ ? अपने आप मूर्च्छित .. ?"

"हाँ भाई !" कृष्ण बोले—"मेरे पास शान्ति का अमोघ शस्त्र था। प्रशसा के अस्त्र ने उसके बल को घटाया और शान्ति के शस्त्र ने उसे परास्त किया।"

इसके बाद कृष्ण ने अपने तीनो साथियो को उद्बोधन दिया—

"पिशाच को पिशाच कैसे मारे ? क्रोधी मनुष्य भी पिशाच होता है। गरम को ठडा ही मारता है। रोज नही देखते ? उफनता दूध पानी के चन्द छींटो से बैठ जाता है। गरम लोहे को ठडा लोहा ही काटता है। क्रोध भी एक पिशाच है। क्रोध का उत्तर क्रोध से देने पर प्रतिद्वन्द्वी का बल बढता है। शान्ति की तलवार ही क्रोधरूपी पिशाच को काट गिराती है। शान्ति से अपना बल बढता है और प्रतिद्वन्द्वी का बल क्षीण होता है।

"साथियो ! शान्ति का उपाय अचूक और अमोघ है। यही कारण है कि तुम पिशाच को न जीत सके और मैंने विना लड़े, विना भिड़े उसे धराशायी कर दिया।"



परिशिष्ट २

मुक्तिकामी साधक द्वारा किये जाने वाले विविध तप

गुणरत्नसंवत्सर तप

पोलासपुर नरेश विजय के पुत्र अतिमुक्तक कुमार ने बचपन मे ही श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा अगीकार की और इस बाल साधक ने 'गुणरत्नसवत्सरतप' द्वारा मोक्ष प्राप्त किया था। और अन्त मे केवलज्ञानी बने थे। उनके विषय मे विस्तृत जानकारी पृष्ठ १३८ पर दी गई है। 'गुणरत्नसवत्सर' तप की विधि इस प्रकार है—

पहले महीने एकान्तर तप, दूसरे महीने बेले-बेले, तीसरे महीने तेले-तेले यावत् सोलहवें महीने सोलह-सोलह दिन का तप किया जाता है। दिन मे उत्कटुक आसन से बैठकर सूर्य की आतापना ली जाती है और रात को वस्त्ररहित होकर ध्यान किया जाता है। इस तप के ४०७ दिन होते हैं और ७३ दिन पारणे के होते हैं। कुल ४८० अर्थात् १६ महीने लगते हैं। देखिए सलग्न चित्र—पृष्ठ १८८

रत्नावली तप

यह तप चम्पानरेश कोणिक की छोटी माता और मगधनरेश श्रेणिक की रानी आर्या काली ने किया था। आर्या काली का वर्णन पृष्ठ पर १५१ दिया गया है। 'रत्नावली तप' की विधि इस प्रकार है—

गले मे पहनने के हार-विशेष को रत्नावली कहते हैं। हार की बनावट के आधार पर चढाव-उतार होने के कारण इस तप का नाम रत्नावली पडा है। यह हार ऊपर दोनो ओर पतला होता है। थोड़ा आगे बढने पर दोनो तरफ फूल होते हैं। नीचे मध्य भाग मे यह हार बडी-बडी मणियो से सयुक्त पान के आकार वाला होता है। इस तप मे—

सर्वप्रथम एक उपवास, एक बेला और एक तेला करके फिर एक साथ आठ बेले किये जाते हैं। इसके बाद उपवास, बेले-तेले आदि करते हुए सोलह दिन तक चढा जाता है। फिर एक साथ चौंतीस बेले करने चाहिए।[1] चौंतीस बेले के बाद सोलह उपवास[2], पन्द्रह उपवास यावत् क्रमश घटाते हुए एक उपवास तक करने

---

१ चौंतीस बेले करने से हार का मध्य भाग मोटा बन जाता है।

२ सोलह का थोकडा।

होते हैं । तत्पश्चात् एक साथ आठ वेले, और अन्त मे एक तेला, एक वेला, और एक उपवास करके साधक रत्नावली तप को पूर्ण करता है ।

इस तप की चार परिपाटी होती हैं । पहली परिपाटी मे पारणे के दिन दूध, दही, मधु आदि विगयो का त्याग नही होता । साधक इच्छानुसार इसका प्रयोग कर सकता है । दूसरी परिपाटी मे कोई भी विगय नही लिया जाता । तीसरी परिपाटी में निर्लेप (जिसका लेप भी न लगे) आहार लिया जाता है । चौथी परिपाटी मे आयविल[1] करना होता है । इसकी एक परिपाटी मे पन्द्रह महीने और बाइस दिन अर्थात् ४७२ दिन लगते हैं । उनमे अठासी पारणे होते है और ३८४ दिन का तप होता है । चारो परिपाटियां ५ वर्ष, २ मास और २८ दिन मे पूर्ण होती हैं । देखिए चित्र—पृ० १८९

कनकावली तप

यह तप कोणिक की लघुमाता और राजा श्रेणिक की रानी आर्या सुकाली ने किया और मुक्ति प्राप्त की । उनके दीक्षापालन का वर्णन पृ० १५३ पर दिया गया है । इस तप की विधि इस प्रकार है—

यह तप लगभग रत्नावली तप के समान ही है । रत्नावली तप मे दोनो फूलो की जगह आठ-आठ वेले और मध्य मे पान के आकार के चौंतीस वेले किये जाते हैं और कनकावली तप मे आठ-आठ एव चौंतीस तेले करने होते है । इसकी एक परिपाटी मे सत्रह मास बारह दिन लगते हैं । उनमे अठासी पारणे और ४३४ दिन का तप होता है । चारो परिपाटियां पांच वर्ष, नौ मास और अठारह दिन मे पूर्ण होती हैं । पारणे की विधि पूर्ववत् ही है । देखिए सलग्न चित्र—पृ० १९०

मुक्तावली तप

चम्पानरेश कोणिक की लघुमाता तथा राजा श्रेणिक की रानी आर्यापितृसेन कृष्णा ने मुक्तावली तप करके सिद्धि प्राप्त की थी । उनका वर्णन पृष्ठ १५४ पर दिया है । तप की विधि इस प्रकार है—

इस तप मे एक उपवास से पन्द्रह उपवास तक किये जाते हैं, बीच-बीच मे एक-एक उपवास होता है तथा मध्य मे सोलह उपवास करके फिर क्रमश उतरते हुए एक उपवास तक किया जाता है, जैसे—एक उपवास, उसके पारणे पर वेला, वेले के पारणे पर उपवास, फिर तेला एव उपवास, इस प्रकार पन्द्रह तक चढकर एक उपवास एव उसके पारणे पर फिर सोलह का थोकडा किया जाता है । फिर पूर्व विधि से तप को घटाते हुए उतारा जाता है । इस तपश्चर्या की एक परिपाटी मे ग्यारह महीने, पन्द्रह दिन—कुल ३४५ दिन लगते हैं । इनमे उनसठ दिन पारणे एव २८६ दिन तपस्या होती है । चारो परिपाटियों को पूर्ण करने में तीन वर्ष, दस मास लगते हैं । पारणे की विधि पूर्ववत् है । देखिए सलग्न चित्र—पृ० १९१

---

१ किसी एक प्रकार का भूंजा हुआ धान्य पानी के साथ खाना आयविल कहलाता है ।

लघुसिंह-निष्क्रीडित तप

यह तप चम्पानरेश कोणिक की लघुमाता आर्यामहाकाली ने किया था और मुक्ति प्राप्त की थी। ये राजा श्रेणिक की रानी थी। इस तप की विधि इस प्रकार है—

जैसे क्रीडा करता हुआ सिंह अतिक्रान्त स्थान देखता हुआ आगे बढता है, अर्थात् दो कदम आगे रखकर एक कदम वापस पीछे रखता हुआ चलता है, उसी प्रकार इस तप मे साधक पूर्व-पूर्व आचरित तप का पुन' सेवन करते हुए आगे बढता जाता है। इस तप मे एक से लगाकर नौ उपवास तक किये जाते हैं और बीच मे आचरित तप का पुन' सेवन करते हुए आगे बढा जाता है और इसी तरह वापस श्रेणी उतारी जाती है, जैसे उपवास के पारणे पर वेला, वेले के पारणे पर उपवास एव उसके पारणे पर तेला एव तेले के पारणे पर वेला। इस प्रकार नौ उपवास तक चढकर पुन उतरना होता है। इस तप की परिपाटी मे छह महीने सात दिन (१८७ दिन) लगते हैं। इनमे ३३ दिन पारणे के और १५४ दिन की तपस्या होती है। चारो परिपाटियो को पूर्ण करने मे दो वर्ष अट्ठाईस दिन लगते हैं। पारणे की विधि पूर्ववत् है। देखिए सलग्न चित्र—पृ० १८८

महासिंह-निष्क्रीडित तप

यह तप चम्पानरेश कोणिक की लघुमाता तथा राजगृह नरेश श्रेणिक की रानी आर्याकृष्णा ने किया था और मुक्ति पाई थी। इस तप की विधि इस प्रकार है—

यह तप लघुसिंह-निष्क्रीडित-तप के समान ही है। लघुसिंह मे नौ उपवास तक चढा जाता है, जबकि इसमे सोलह उपवास तक चढना होता है। शेष विधि और साधना क्रम पूर्ववत् है। इसकी एक परिपाटी मे अठारह महीने और अठारह दिन—कुल ५५८ दिन लगते हैं। इसमे ६१ पारणे होते हैं। ४९७ दिन की तपस्या होती है। चारो परिपाटियो को पूर्ण करने मे छह वर्ष दो मास और वारह दिन लगते हैं। देखिए सलग्न चित्र—पृ० १९२

लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा तप

यह तप चम्पानरेश कोणिक की लघुमाता तथा राजगृह नरेश श्रेणिक की रानी आर्या महाकृष्णा ने किया था और मुक्ति पाई थी। इसमे पाँच-पाँच पदो की पाँच पक्तियाँ वनती हैं, अर्थात् पच्चीस कोष्ठको के यन्त्र की स्थापना होती है। इसकी एक परिपाटी मे सौ दिन लगते हैं। पच्चीस पारणे और पचहत्तर दिन की तपस्या होती है। चारो परिपाटियो मे चार सौ दिन, अर्थात् तेरह मास दस दिन लगते हैं।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप

यह तप राजा कोणिक की लघु माता तथा श्रेणिक की रानी आर्या वीर कृष्णा ने किया था और मुक्ति पाई थी। इस तप की विधि इस प्रकार है—

इसकी एक परिपाटी मे आठ मास, पाँच दिन लगते हैं। १९६ दिन तपस्या मे

एव ४६ दिन पारणे के होते हैं। चार परिपाटियो मे दो वर्ष, आठ मास और वीस दिन लगते हैं। इसमे सात-सात पदो की मात पंक्तियाँ बनती है, यानी ४६ कोठो का यन्त्र बनता है।

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

यह तप चम्पा नरेश कोणिक की लघुमाता तथा श्रेणिक की रानी आर्या राम-कृष्णा ने किया था और मुक्ति पाई थी। इसकी विधि इस प्रकार है—

इसकी स्थापना भी २५ कोठो मे होती है। यह तप पाँच उपवास से शुरू होता है और सात उपवास मे सम्पन्न होता है। इसकी एक परिपाटी मे छह मास, वीस दिन—कुल दो सौ दिन लगते हैं। उनमे पच्चीस पारणे होते हैं व १७५ दिन का तप होता है।

आयंबिल वर्द्धमान तप

यह तप कोणिक की लघुमाता तथा श्रेणिक की रानी आर्या महासेन कृष्णा ने किया था और सिद्धि पाई थी। इसकी विधि इस प्रकार है—

इस तप में क्रमश आयंबिल बढाये जाते हैं, जैसे—एक आयंबिल करके उपवास करना, फिर दो आयंबिल, फिर एक उपवास। इस प्रकार बीच-बीच मे उपवास करते हुए सौ आयंबिल तक चढा जाता है। इस तप मे सौ उपवास एव ५०५० आयंबिल होते हैं। चौदह वर्ष, तीन मास एव वीस दिन मे यह तप सम्पन्न होता है।

—अतगडदसा सूत्र के अनुसार

बारह भिक्षु प्रतिमाएँ

साधु के अभिग्रह-विशेष को भिक्षुप्रतिमा या भिक्खु पडिमा कहते हैं। ये बारह हैं, यथा—(१) मासिकी, (२) द्विमासिकी, (३) त्रिमासिकी, (४) चतुर्मासिकी, (५) पचमासिकी, (६) षण्मासिकी, (७) सप्त मासिकी, (८) प्रथमा सप्तरात्रिदिवा, (९) द्वितीया सप्तरात्रिदिवा, (१०) तृतीया सप्तरात्रिदिवा, (११) अहोरात्रिकी और (१२) एकरात्रिकी।

प्रत्येक प्रतिमाधारी मुनि अपने शारीरिक सस्कारो तथा शरीर के ममत्व भाव को छोड देता है और दैन्य भाव न दिखाते हुए, अर्थात् वीरतापूर्वक देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करता है। पडिमा अथवा प्रतिमाधारी मुनि अज्ञात कुल से और थोड़े परिमाण मे गोचरी लाता है। गृहस्थ के घर पर मनुष्य, पशु, श्रमण, ब्राह्मण, भिखारी आदि भिक्षार्थ खड़े हो तो उसके घर नही जाता, क्योकि उनके दान मे अन्तराय पडता है। अत उनके चले जाने पर जाता है। प्रत्येक प्रतिमा का परिचय और पालनीय नियमो का वर्णन इस प्रकार है—

पहली भिक्षु प्रतिमा

भिक्षा लेने के उपयुक्त गृह और और दाता का विधान

पहली प्रतिमाधारी साधु को एक 'दत्ति'[1] अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो, साधु को वही से भिक्षा लेनी चाहिए। जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्तियो के लिए भोजन बना हो, वहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए। गर्भवती और छोटे बच्चे वाली स्त्री के लिए बना हुआ भोजन भी नही लेना चाहिए। यदि कोई स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो—स्तनपान करा रही हो और वह बच्चे को दूध पीने से हटाकर भिक्षा दे तो भी नही लेनी चाहिए। इसी प्रकार आसन्न-प्रसवा स्त्री तथा जिस स्त्री के दोनो पैर देहली के भीतर या बाहर हो, उससे भी भिक्षा नही लेनी चाहिए। लेकिन जिस स्त्री का एक पैर बाहर तथा एक पैर अन्दर हो, उससे भिक्षा लेनी चाहिए।

गोचरी का समय

प्रतिमाधारी मुनि के लिए तीन समय गोचरी के लिए बताये हैं—(१) दिन का आदि भाग, (२) मध्य भाग और (३) चरम भाग। मुनि को किसी एक समय में गोचरी के लिए जाना चाहिए, अर्थात् उसे एक से अधिक वार गोचरी के लिए कदापि नही जाना चाहिए। तीनो समयो मे से किसी भी एक समय गोचरी भ्रमण करना ही कल्पता है।

गोचरी के प्रकार

प्रतिमाधारी को छह प्रकार की गोचरी करनी चाहिए, यथा—(१) पेटा, (२) अर्द्ध पेटा, (३) गो-मूत्रिका, (४) पतगवीथिका, (५) शखावर्ता अथवा शबूकावर्ता और (६) गतप्रत्यागता (गत्वा प्रत्यागता)। इन छहो गोचरी के बारे मे इस प्रकार कहा गया है—

(१) पेटी के समान चार कोने वाली वीथी (गली) मे गोचरी करने को 'पेटा गोचरी' कहते हैं।

(२) दो कोने वाली गली मे गोचरी करने को 'अर्धपेटा गोचरी' कहते हैं।

(३) चलते हुए बैल के पेशाव करने पर जैसी रेखाएँ होती हैं, उसी प्रकार की वक्र गलियो मे गोचरी करने को 'गोमूत्रिका गोचरी' कहते हैं।

(४) जिस प्रकार पतगा एक स्थान से उछलकर दूसरे स्थान पर बैठता है, उसी प्रकार एक घर से गोचरी लेकर बीच मे चार-पाँच घर छोडकर भिक्षा लेने को 'पतगवीथिका' गोचरी कहते हैं।

---

१ साधु के पात्र मे दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और पानी की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे, उसे 'दत्ति' कहते हैं। धारा खडित होने पर दत्ति खडित हो जाती है।

(५) शंख—दक्षिणावर्त और वामावर्त दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार किसी गली मे दक्षिण की ओर से भ्रमण करते हुए उत्तर की ओर जाकर गोचरी लेना तथा उत्तर की ओर से भ्रमण करते हुए दक्षिण की ओर जाकर गोचरी लेना 'शखावर्ता' या 'शम्बूकावर्ता' गोचरी कही जाती है।

(६) वीथी के अन्तिम घर तक जाकर भिक्षा ग्रहण करते हुए वीथीमुख तक आना 'गत्वाप्रत्यागता' अथवा 'गतप्रत्यागता' गोचरी कहलाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त छह गोचरियो मे से किसी एक प्रकार की गोचरी करने का अभिग्रह लेकर प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को भिक्षा लेना कल्पता है, अन्यथा नहीं। क्योकि एक दिन मे एक ही प्रकार की गोचरी करने का अभिग्रह करके भिक्षा लेने का विधान है।

रुकने—ठहरने का स्थान

साधु के रुकने-ठहरने का विधान भी इस प्रकार बताया गया है—

जहाँ साधु को कोई जानता हो, वहाँ वह एक रात रह सकता है और जहाँ उसे कोई नहीं जानता हो, वहाँ वह एक या दो रात रह सकता है, लेकिन इससे अधिक नहीं। इससे अधिक दिन तक ठहरने वाले साधु को (अधिक दिनो के) छेदन या प्रायश्चित्त करना होता है।

भाषा

प्रतिमा प्रतिपन्न साधु को चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए—

(१) याचनी, (२) पृच्छनी, (३) अनुज्ञापनी और (४) पृष्ठव्याकरणी, यथा—

(१) दूसरे से आहार, वस्त्र, पात्र आदि मांगने के लिए बोलना 'याचनी' भाषा है।

(२) शका का समाधान करने के लिए गुरु आदि से प्रश्न करना अथवा किसी से मार्ग पूछना 'पृच्छनी' भाषा है।

(३) गुरु आदि से गोचरी आदि की आज्ञा लेने के लिए बोलना अथवा शय्यातर (गृहस्वामी) से स्थानादि की आज्ञा देने के लिए बोलना 'अनुज्ञापनी' भाषा है।

(४) किसी व्यक्ति द्वारा प्रश्न किये जाने पर उत्तर देने के लिए बोलना 'पृष्ठ व्याकरणी' भाषा है।

प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार को इन चार भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा बोलना नहीं कल्पता है।

उपाश्रय

मासिकी भिक्षुप्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयो का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

(१) अध. आरामगृह—उद्यान मे अवस्थित गृह।

(२) अध विवृत गृह—चारो ओर से अनाच्छादित गृह।

(३) अधःवृक्षमूल गृह—वृक्ष के नीचे, या वृक्ष के नीचे बना गृह।

मासिकी प्रतिमाधारी साधु को ऊपर लिखे तीन प्रकार के उपाश्रयो की आज्ञा लेना कल्पता है तथा इन्ही तीन प्रकार के उपाश्रयो मे ठहरना कल्पता है।

सस्तारक अथवा शय्या-आसन

प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के सस्तारको (शय्या-आसनो) का प्रतिलेखन करना कल्पता है; यथा—

(१) पृथ्वी शिला—पत्थर की बनी हुई शय्या।

(२) काष्ठ शिला—लकडी का बना हुआ पाट।

(३) यथासस्तृत—तृण-पराल आदि जहाँ पर पहले से बिछा हुआ हो।

मासिकी प्रतिमाधारी अनगार को उपर्युक्त तीनो प्रकार के सस्तारको—शय्या-आसनो की आज्ञा लेना तथा ग्रहण करना (प्रयोग करना) ठहरता है।

उपाश्रय आचार

अनगार के उपाश्रय मे यदि कोई (असदाचारी) स्त्री या पुरुष आकर अनाचार का आचरण करें तो उन्हे देखकर अनगार को उपाश्रय से निष्क्रमण या प्रवेश करना नहीं कल्पता है, अर्थात् जिस स्थान पर प्रतिमाधारी मुनि ठहरा हुआ हो, वहाँ दिन या रात मे दुराचारी स्त्री या पुरुष दुराचार का सेवन करें तो उन्हें देखकर मुनि को उपाश्रय से बाहर नहीं जाना चाहिए, बल्कि आत्मचिन्तन या स्वाध्याय में रत रहना चाहिए। इसी प्रकार जब अनगार गोचरी या आतप सेवन आदि के लिए उपाश्रय से बाहर कहीं गया हो और उसके पीछे स्त्री-पुरुष उपाश्रय में आकर बैठ जावें या अनाचार का आचरण करते हुए दिखाई दें तो अनगार को उस उपाश्रय मे प्रवेश करना नहीं कल्पता है।

उपसर्ग उपस्थित होने पर उपाश्रय आचार

प्रतिमाधारी अनगार जिस उपाश्रय में स्थित हो, उसमे यदि किसी प्रकार आग लग जाय या कोई लगा दे तो अग्निभय से अनगार को उपाश्रय से बाहर निकलना नहीं कल्पता है। ऐसी अवस्था मे यदि अनगार बाहर हो तो भी उसे अग्नि प्रदीप्त उपाश्रय मे प्रवेश करना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार अग्निप्रदीप्त उपाश्रय मे स्थित अनगार को कोई भुजा पकडकर बाहर निकालना चाहे तो अनगार को उचित है, उस निकालने वाले व्यक्ति का सहारा लेकर शान्त भाव से विवेकपूर्वक बाहर निकले।

विहार करते समय

अनगार के पैर में यदि तीक्ष्ण ठूंठ, कटक, हीरक (तीखे कांच आदि) ककड आदि लग जावे तो उसे निकालना या विशुद्धि (उपचार) करना नही कल्पता है, किन्तु उसे ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है। इसी प्रकार यदि अनगार की आँख मे मच्छर आदि सूक्ष्म जन्तु, बीज (फूस, तिनका आदि) रज आदि गिर जावे तो उसे

निकालना या विशुद्धि (उपचार) करना नही कल्पता है। ऐसी स्थिति मे साधु को ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है।

विहार करते समय सूर्यास्त :

प्रतिमाधारी साधु को विहार करते हुए जहाँ सूर्यास्त हो जाए, वही रहना चाहिए, भले ही वह स्थान—(१) जलपूर्ण अथवा थल हो, (२) दुर्गम या नीचा मार्ग हो, (३) पर्वत या विषम मार्ग हो, (४) गर्त या गुफा हो। साधु को पूरी रात वही रहना चाहिए, एक कदम भी आगे नही बढना चाहिए। जब प्रात कालीन प्रभा प्रकट हो और सूर्य का उदय होने लगे तो चारो दिशाओ (पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण) मे से किसी एक की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना कल्पता है।

निद्रा

मासिकी भिक्षुप्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सचित्त पृथ्वी पर निद्रा लेना या ऊँघना नही कल्पता है। केवली भगवान ने सचित्त पृथ्वी पर नीद लेने या ऊँघने को कर्मबन्ध का कारण कहा है। यदि प्रतिमाधारी अनगार सचित्त धरती पर नींद लेगा और अपने हाथ से भूमि का स्पर्श करेगा तो उससे पृथ्वीकाय जीवो की हिंसा होगी, अत उसे सूत्रोक्त विधि से निर्दोष स्थान पर ठहरना चाहिए या निष्क्रमण करना चाहिए। यदि अनगार को मलमूत्र की बाधा हो जाए तो रोकना नही चाहिए—पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर त्याग करना चाहिए और पुन उसी उपाश्रय मे आकर यथाविधि निर्दोष स्थान पर ठहरना चाहिए।

अनगार को सचित्त रजयुक्त काय से गृहस्थों के गृह-समुदाय में भक्तपान के लिए निष्क्रमण और प्रवेश करना नही कल्पता है। यदि यह ज्ञात हो जाए कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज स्वेद, शरीर पर लगे हुए मेल या पक प्रस्वेद से अचित्त हो गया है तो उसे गृहस्थो के गृह-समुदाय मे भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है।[1]

शरीर शुद्धि जल प्रक्षालन :

प्रतिमाधारी अनगार को विकट शीतोदक या विकट उष्णोदक—अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, नेत्र या मुख एक वार धोना अथवा वार-वार धोना

---

१ 'सचित्त रजयुक्त काय'। अनगार के उपाश्रय के निकट किसी खान से मिट्टी खोदी जा रही हो तो वह सचित्त रज उड कर अनगार के काय पर लग जाती है, अत 'सचित्त रजयुक्त काय' से गोचरी के लिए घरो मे जाने का यहाँ निषेध है। लेकिन यदि अनगार के शरीर पर पसीना वह रहा हो, उस समय शरीर पर लगी हुई सचित्त रज अचित्त हो जाती है अथवा शरीर के मेल पर लगी हुई सचित्त रज भी अचित्त हो जाती है, तव वह अनगार गोचरी के लिए गृहस्थो के घरो में आ जा सकता है।

नही कल्पता है। मलमूत्र से लिप्त शरीरावयव और भक्तपानादि से लिप्त हाथ-मुंह इस नियम के अपवाद हैं, अर्थात् इन्हें धोना कल्पता है।

हिंसक-अहिंसक पशुओं के आने पर

विहार करते समय अनगार के सम्मुख यदि अश्व, हस्ती, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, वृक (भेडिया), द्वीपि (चीता), अक्ष (रीछ), तरक्ष (तेंदुआ), पराशर (वन्य पशु), शृगाल, बिडाल, केकित्तक (सर्प), शशक चिक्खल (वन्य पशु), शुनक (श्वान), कोलशुनक (जगली शूकर) आदि दुष्ट (हिंसक) प्राणी आ जाए तो उससे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नही कल्पता है। इसी प्रकार यदि कोई अहिंसक पशु (गाय, भैंस आदि) मार्ग मे सामने आ जाए तो उस पशु को जाने देने के लिए युग परिमाण (चार हाथ) पीछे हटना कल्पता है।

काया सुख

'यहाँ शीत अधिक है' अथवा 'यहाँ धूप अधिक है' ऐसा सोचकर छाया से धूप मे अथवा धूप से छाया मे जाना प्रतिमाधारी अनगार को नही कल्पता है, बल्कि जहाँ जैसा हो, वही सुस्थिर रहना चाहिए। शीत या उष्ण जो भी हो, वहाँ वैसे ही (शीत या उष्ण) सहन करना चाहिए।

इस प्रकार मासिकी भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार मासिकी भिक्षु प्रतिमा को सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार काय से स्पर्श कर, पालन-कर अतिचारो का शोधन कर, कीर्तन और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार बिना किसी अन्तर या व्यवधान के पालन करने वाला होता है।

दूसरी से सातवीं तक भिक्षु प्रतिमाएँ

इन प्रतिमाओ में उन सभी नियमो का पालन किया जाता है, जो पहली प्रतिमा मे बताये गए हैं। पहली से सातवी तक की प्रतिमाओ मे दत्तियाँ क्रमश बढती जाती हैं, जैसे पहली प्रतिमा में एक दत्ति अन्न की, एक दत्ति पानी की, दूसरी मे दो दत्ति अन्न की और दो दत्ति पानी की, तीसरी मे तीन दत्ति अन्न की और तीन दत्ति पानी की। इसी क्रम से चौथी से सातवी तक क्रमश दत्तियाँ बढती जाती हैं। दत्तियो की वृद्धि के कारण ही दूसरी प्रतिमा दो मास की, तीसरी तीन मास की और चौथी चार मास की। इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिमा की मास सख्या है। जो प्रतिमा जितने मास की होती है, उसमें उतनी ही भक्तपान की दत्तियाँ ग्रहण की जाती है। शेष सभी नियम पहली प्रतिमा के ही मानना कल्पता है।

आठवीं भिक्षु प्रतिमा

इस प्रतिमा का समय सात दिन-रात है। इसमे अपानक उपवास किया जाता है, अर्थात् एकान्तर चौविहार उपवास (चतुर्थभक्त) करना चाहिए। ग्राम, नगर या राजधानी के बाहर जाकर उत्तानासन (आकाश की ओर मुंह करके लेटना), पार्श्वासन (एक पसवाड़े या करवट से लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरो को बराबर कर बैठना)

से ध्यान लगाकर समय व्यतीत करना चाहिए। ध्यान करते समय देवता, मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्बन्धी कोई उपसर्ग उत्पन्न हो तो ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिए, किन्तु अपने स्थान पर निश्चल रूप से बैठे रहकर ध्यान में दृढ बने रहना चाहिए। यदि मलमूत्र आदि की शका उत्पन्न हो जाए तो रोकना नही चाहिए, किन्तु पहले से देखे हुए स्थान पर जाकर उनकी निवृत्ति कर लेनी चाहिए। आहार-पानी की दत्तियो के अतिरिक्त इस प्रतिमा मे प्रथम प्रतिमा मे उल्लिखित नियमो का पालन करना चाहिए।

नौवीं भिक्षुप्रतिमा

इस प्रतिमा का समय सात दिन-रात है। इसमे चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। इसमे ग्राम अथवा नगर आदि के बाहर जाकर दण्डासन, लगुडासन और उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है। इसका नाम द्वितीय सप्तरात्रिदिवा प्रतिमा है।

दसवीं भिक्षुप्रतिमा

इसका नाम तृतीय सप्तरात्रिदिवा प्रतिमा है। इसका समय सात दिन-रात है। इसमे चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। ग्राम अथवा नगर के बाहर गोदोहनासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। आठवी, नौवी और दसवीं प्रतिमाओ मे आहार-पानी की दत्तियो के अतिरिक्त शेष सभी नियमो का पालन किया जाता है। इन तीनो प्रतिमाओ का समय इक्कीस दिन-रात है।

ग्यारहवीं भिक्षुप्रतिमा

इसका समय एक दिन-रात है। इसका नाम अहोरात्रि की है। यह प्रतिमा आठ प्रकार की होती है। चौविहार बेला करके आराधन किया जाता है। नगर आदि के बाहर जाकर दोनो पैरो को सकुचित कर हाथो को घुटनो तक लम्बा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। शेष सभी नियम पूर्वोक्त हैं।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा

इस प्रतिमा का नाम 'एक रात्रिकी है'। इसकी अवधि केवल एक रात है। इसका आराधन बेले को बढा कर चौविहार तेला करके किया जाता है। इसके आराधक को ग्राम आदि के बाहर जाकर शरीर को थोडा-सा आगे की ओर झुकाकर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए अनिमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक सब इन्द्रियों को गुप्त रखकर दोनो पैरो को संकुचित कर हाथों को घुटनों तक लम्बा करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय देव, मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्बन्धी कोई उपसर्ग उत्पन्न हो तो दृढ होकर समभावपूर्वक सहन करना चाहिए। यदि उसको मल-मूत्र की शका उत्पन्न हो जाए तो उसे रोकना नही चाहिए, किन्तु पहले से देखे हुए स्थान मे उनकी निवृत्ति कर वापस अपने स्थान पर आकर विधि पूर्वक कायोत्सर्ग मे लग जाना चाहिए।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा का माहात्म्य तथा अन्य ज्ञातव्य

इस प्रतिमा का पालन करने वाले अनगार के लिए तीन अशुभ, अहितकर, असामर्थ्यंकर, अकल्याणकर एव दु खद भविष्य वाले होते हैं यथा—(१) उन्माद की प्राप्ति, (२) चिरकाल तक रोग एव आतक की प्राप्ति तथा (३) केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना। अर्थात् देवादि द्वारा किये गए अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्गादि को समभाव पूर्वक सहन न करने से उन्माद की प्राप्ति होती है। इसी तरह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित हो जाने से साधक श्रुत चारित्र रूप धर्म से भी पतित हो जाता है।

इस प्रतिमा का सम्यक् रूप से पालन करने से तीन अमूल्य पदार्थों की प्राप्ति होती है, यथा—(१) अवधिज्ञान, (२) मन.पर्यायज्ञान और (३) केवलज्ञान। इस प्रतिमा का सफल साधक उक्त तीनो मे से एक गुण को अवश्य प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इस प्रतिमा मे महान् कर्म समूह का क्षय होता है। यह प्रतिमा हित, शुभकर्म, शक्ति, मोक्ष या ज्ञानादि प्राप्ति के लिए होती है।

इस प्रतिमा का यथासूत्र, यथाकल्प, यथातत्त्व सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, अतिचारो से शुद्ध कर, पूर्णकर, कीर्तन कर, आराधन कर भगवान की आज्ञानुसार पालन किया जाता है।

—आयारदशा (दशाश्रुतस्कध) ७वी दशा

नोट—बारहवी अहोरात्रि की भिक्षु प्रतिमा का पालन उत्कृष्ट ध्यान योगी गजसुकुमार ने किया था और उसी रात्रि मे वे सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

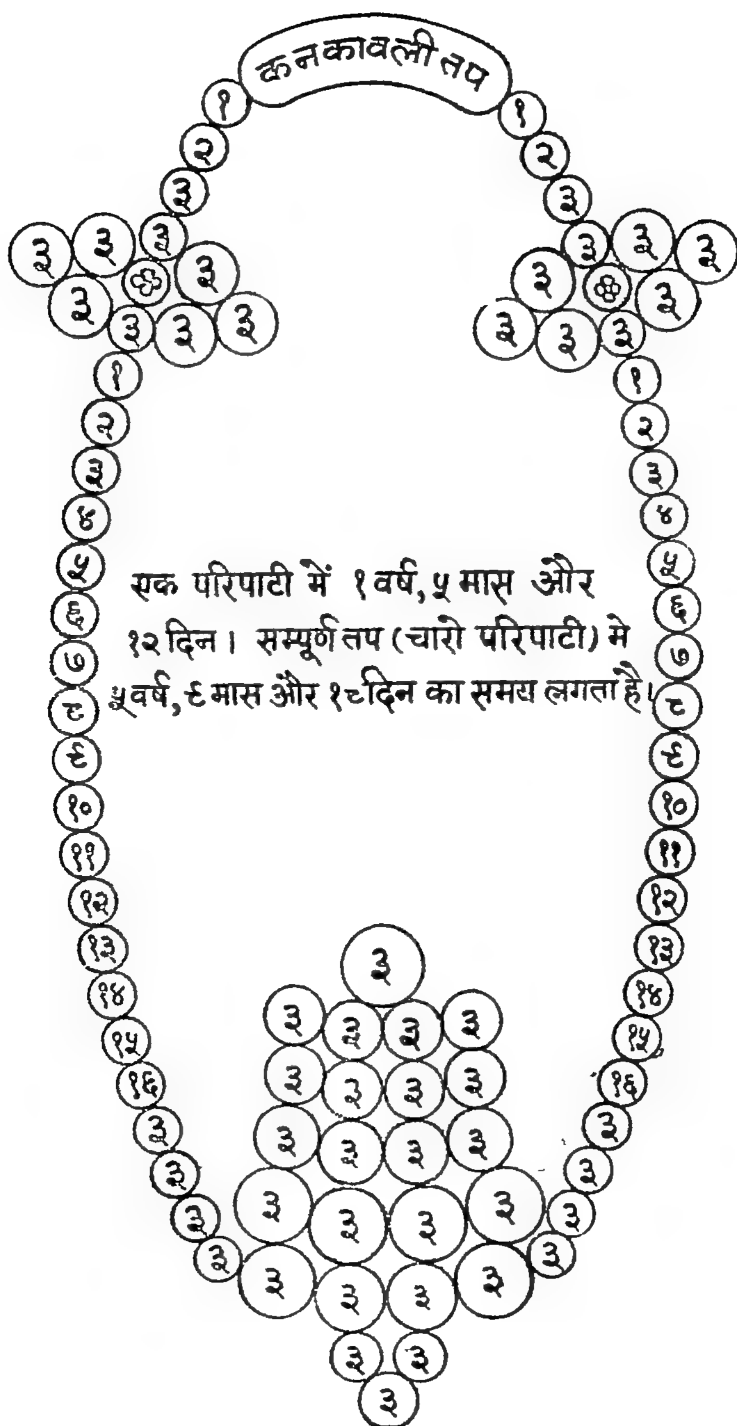
गुणरत्न संवत्सर तप

सम्पूर्ण तप मे १३ मास
१७ दिन लगते है।

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप

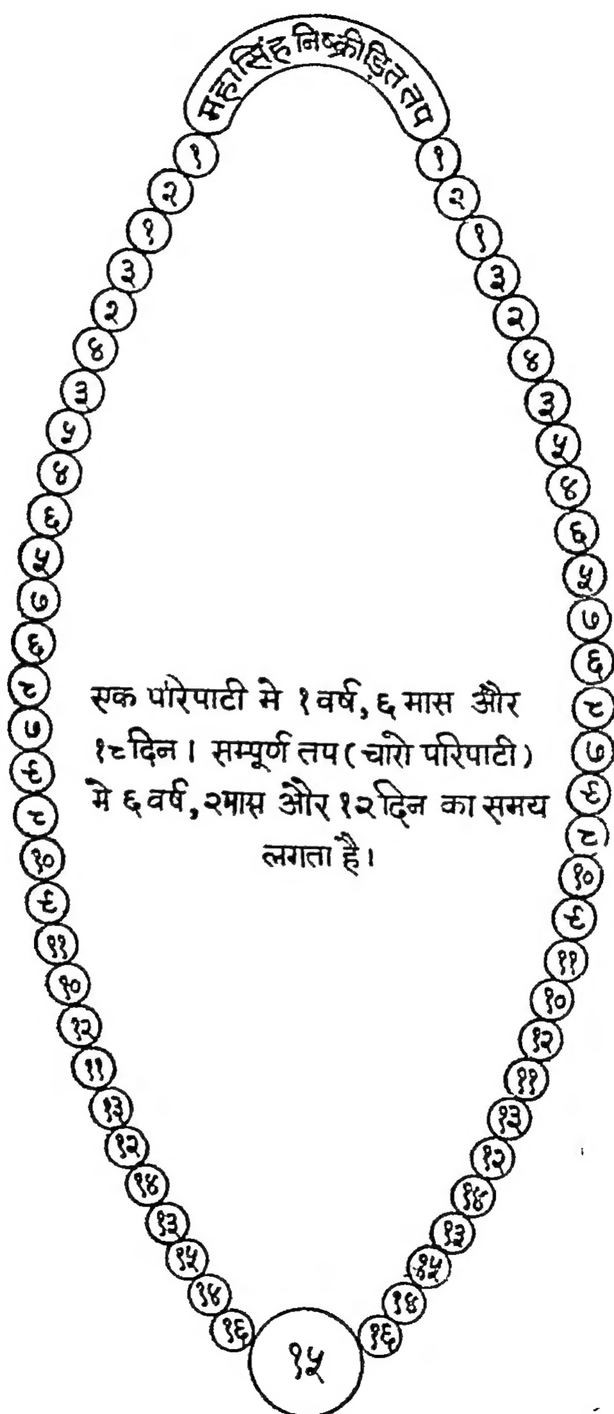
एक परिपाटी मे ६ मास ७ दिन।
सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) मे
२ वर्ष, २८ दिन का समय लगता
है।


रत्नावली तप
एक परिपाटी मे १ वर्ष, ३ मास और २२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में ५ वर्ष २ मास और २८ दिन का समय लगता है।


कनकावली तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ५ मास और
१२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) मे
५ वर्ष, ६ मास और १८ दिन का समय लगता है।

मुक्तावली तप

एक परिपाटी मे ११ मास, १५ दिन। सम्पूर्ण (चारो परिपाटी) तप मे ५ वर्ष, २ मास २८ दिन का समय लगता है।


महासिंह निष्क्रीड़ित तप
1
2
1
3
2
4
3
5
4
6
5
7
6
8
7
9
8
10
9
11
10
12
11
13
12
14
13
15
14
16
15
16
14
15
13
14
12
13
11
12
10
11
9
10
8
9
7
8
6
7
5
6
4
5
3
4
2
3
1
2
1
एक परिपाटी मे १ वर्ष, ६ मास और १८ दिन। सम्पूर्ण तप (चारो परिपाटी) मे ६ वर्ष, २ मास और १२ दिन का समय लगता है।

परिशिष्ट ३

उपशामनासूत्र

१ सामन्नमणुचरतस्स कसाया जस्स उक्कडा होति।
मन्नामि उच्छुफुल्ल व निप्फल तस्स सामन्न।

—दशवैकालिक निर्युक्ति ३०१

श्रमण धर्म का अनुसरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं, शात नही हुए हैं उसका श्रमणत्व (साधुपना) ईख के फूल की भाति निरर्थक है।

२ कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स।

—दशवै० ८।४०

जिसके क्रोध और मान वश मे नही हैं, जिसके माया और लोभ बढ़ते ही जा रहे हैं उसके ये चारो कषाय—जन्म-मरण की वेल को भव-भवो की जड को निरन्तर सीचते रहते हैं।

३ खमावणयाए ण भते! जीवे किं जणयइ?
खमावणायाए ण पल्हायण भाव जणयइ।

—उत्तराध्ययन २९।१७

भते! क्षमापना से जीव को क्या लाभ होता है?
क्षमापना करने से आत्मा मे प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

४ जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा

—वृहत्कल्प सूत्र १।३५

जो अपने कषायो का उपशमन करता है, वह सयम की आराधना करता है। जो कषायो का उपशमन नही करता वह सयम की आराधना नही कर पाता।

५ खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु वेर मज्झ न केणइ।

—आवश्यक सूत्र ४

मैं संसार के (८४ लाख जीव योनि के) सब जीवो को खमाता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। इन सभी प्राणियों के साथ मेरा मैत्री भाव है, किसी के साथ मेरा वैर नही है।

६ जइ कसाय उक्कडताए ण खामिय तो पज्जोसवणासु अवस्स
विउसमियव्व ।

—निशीथ चूर्णि ३।१

यदि कपाय की उत्कटता के कारण परस्पर मे हुए कलह की क्षमायाचना न की हो, तो पर्युषण के अवसर पर कलह को अवश्य ही उपशान्त कर देना चाहिए।

७ जं अज्जिय चरित्तं देसण्णुए वि पुव्वकोडीए।
तं पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

—निशीथ भाष्य २७९३

देशोनकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, उसे अन्तर्मूहूर्त भर के प्रज्वलित कपाय से मनुष्य नष्ट कर देता है।

८ उवसमेण हणे कोह माण मद्दवया जिणे।
माय मज्जव भावेण लोभं सतोसओ जिणे ॥

—दशवैकालिक ८।३९

उपशम-क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरल भाव से माया को और सतोष से लोभ को जीतना चाहिए।

☆